समसामयिक

हिन्दी कविता

विविध परिदृश्य

समसामयिक हिन्दी कविता: विविध परिदृश्य

डॉ० गोविन्द रजनीश

देवनागर प्रकाशन, जयपुर-3

आमुख

इस कृति में हिन्दी की समसामयिक कविता, विशिष्टतया, नई कविता और साठोत्तरी कविता का विविध आयामों में आकलन किया गया है। यह सन् ६४ से लेकर सन् ७१ तक के मेरे समीक्षात्मक लेखों का संकलन है जो कि हिन्दी की महत्वपूर्ण पत्रिकाओं जैसे 'कल्पना', 'आलोचना', 'माध्यम', 'ज्ञानोदय', 'कविता', 'ओर', 'मधुमती', 'समीक्षा' आदि में छप चुके हैं। ये लेख स्वतन्त्र हैं, एक बिन्दु से जुड़े भी हैं; इसी से इनमें क्रमबद्धता न होते हुए भी एक सूत्रता है।

सकलन के कुछ लेख सैद्धान्तिक भी है-जैसे 'अकेलापन: भोग और लगाव' और 'नवलेखन और पाठकीय संकट' आदि। कुछ का कथ्य अलग भी हैं जैसे एक लेख साठोत्तरी भारतीय कविता पर है जिसमें हिन्दी की साठोत्तरी कविता की संवेदनाओं को समान भारतीय धरातल पर खोजा गया है। 'पिंजड़े में आबद्ध पक्षी और टूटे हुए डैने' चीन के समसामयिक साहित्य की अवरुद्ध-चेतना पर सम्यक् प्रकाश डालता है, किन्तु इसके सन्दर्भ काव्य के माध्यम से ही खोजे गये हैं।

इस संग्रह को साकार रूप दिलाने में साहित्य-व्यसनी श्री मनोहर प्रभाकर का विशेष आग्रह रहा है। इसके लिए मैं उनका विशेष आभारी हूं। इसके प्रकाशन में देवनागर प्रकाशन के संचालक महोदय की तत्परता और निष्ठा स्पृहणीय रही है, उनके लिए धन्यवाद देना मात्र औपचारिकता होगी।

—गोविन्द रजनीश

संकेत

पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते
मूढः पर प्रत्ययनेय बुद्धिः ॥

—कालीदास
(मालविकाग्निमित्रम्)

———

पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते
मूढः पर प्रत्ययनेय बुद्धिः ॥

—कालीदास
(मालविकाग्निमित्रम्)

५

इलियट और हिन्दी की नई कविता

सम्भवतया स्रष्टा और द्रष्टा के रूप में इलियट ही ऐसा विद्वान है जिससे अधिकांश भाषाओं का नया काव्य अप्रतिम रूप से प्रभावित हुआ है। ऊसर भूमि से प्रभावित आधुनिक आंग्ल कवि तथा हिन्दी के नये कवि इलियट-परिधि में ही चक्कर काटते रहे हैं। यूरोपीय सांस्कृतिक ह्रास के चित्रण, अनास्था एवं कुण्ठा के चित्रण इलियट से प्रभावित हैं। इलियट धर्म में कैथोलिक, राजनीति में राजभक्त, साहित्य में पुरातनवादी है।

काव्य की दृष्टि से इलियट, व्यक्तित्व को काव्य से असम्पृक्त मानता है। उसका कथन है कि व्यक्तिगत भाव सर्वथा भिन्न है, इसीलिए वह काव्य को व्यक्तित्व से पलायन करने की घोषणा करता है।[१] जिसको अज्ञेय ने अपने काव्य मे यथार्थ ग्रहण किया है। कला के क्षेत्र में इलियट फ्रेंच प्रतीकवादियों और बिम्बवादियों से प्रभावित है। उसकी प्रतीकात्मक भाषा को फोर क्वारटेट्स में देखा जा सकता है। कहीं कहीं प्रतीकों की झड़ी लगा दी है।[२] तो कहीं बीभत्स चित्रों की सर्जना करता है। वह यू-वृक्ष [चीड़ के सदृश सदाबहार वृक्ष] को मृत्यु का प्रतीक बनाता है। इसी आधार पर हिन्दी कवियों ने विशृंखलित विचारों तथा अपरिपक्व संवेदनाओं की

---

१. 'Poetry is not a turning loose of emotion but an escape from emotion; it is not the expression of personality, but an escape from personality.' (T. S. Eliot)

२ Ash on an old man's sleeve
Is all the ash the burnt roses leave.
Dust in the air suspended
Marks the place, where a story ended.
Dust inbreathed was a house
The wall, the vain Scot and the mouse.

(T.S. Eliot, 'Four Quartets', p. 57)

अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकात्मक शैली को अपनाया। यह बात सुनिश्चित है कि नई कवियों ने कहीं-कहीं सबल, प्रभावोत्पादक प्रतीकों को प्रयुक्त किया है। लेकिन वह हिन्दी का नया कवि बौद्धिकता में उलझ जाता है वहीं कलात्मकता पलायन कर जाती है।

इलियट ने अपने काव्य को प्रसारवादी बनाने के लिए विज्ञान, इतिहास, पुराण, धर्म, दर्शन, से प्रसंगों की झड़ी लगा दी है। जिससे काव्य अतिशय प्रसंग-गर्भत्व के कारण क्लिष्ट और दुरूह हो गया है। बोधगम्यता का उसमें अभाव है। लेकिन इसमें इलियट की प्रमुख विशेषता भी निहित है कि जहाँ वह वेस्टलैंड में उपनिषदों से लेकर आधुनिक मनोविज्ञान, भौतिक विज्ञान के पारिभाषिक शब्दों को प्रयुक्त करता है वहाँ पैंतीस कवियों के उद्धरणों और छ विदेशी भाषाओं को भी प्रयुक्त करता है। हो सकता है इसमें पांडित्य प्रदर्शन का दुराग्रह हो लेकिन अन्य भाषाओं के उत्कृष्ट साहित्य की ओर आदर की भावना निहित है। मैं इस प्रवृत्ति को शुभ मानता हूं क्योंकि इलियट अपने दर्शन का मूल एक विदेशी दर्शन (उपनिषद) में मानता है जहां कि उसकी समस्त विचारधाराएं एक केन्द्रबिन्दु पर पर्यवसित हो जाती हैं। लेकिन हिन्दी के कवियों में और इलियट की विचारधारा में एक बहुत बड़ा अन्तर है। इलियट इतिहास और परम्परा की उपेक्षा नहीं करता, वरन् उसे अपने दृष्टिकोण से प्रस्तुत करता है, जब कि नये हिन्दी कवियों को परम्परा और इतिहास से चिढ़ है।

आलोचकों ने इलियट की दुरूहता को समक्ष रखते हुए उसके काव्य की बहुत भर्त्सना की है।[1] यह आरोप भी लगाया है कि उसके काव्य से तादात्मीयकरण करने के लिए विश्वकोश को पास रखना अनिवार्य है। जहाँ तक दुरूहता का प्रश्न है, वह अवांछनीय है। स्वयं इलियट ने काव्य के लिए दुरूहता का होना अनिवार्य माना है। एलोट ने इलियट के काव्य के बारे में कहा है : "इलियट का काव्य गम्भीरता और पांडित्य के प्रतिनिर्वाह को लिए हुए है। ऐसी कविता, कविता का अन्त करने के लिए है।" हिन्दी की प्रयोगवादी तथा नई कविता पूर्णतया दुरूह है जिसका उसी सम्प्रदाय-विशेष के लोग ही रसास्वादन कर सकते हैं। अन्य के लिए साधारणीकरण का प्रश्न ही नहीं है।

---

१. 'The solution of some too insistent problems make it possible to write 'popular poetry' again....the poems in his book represent reaction again esoteric poetry in which it is necessary for the reader to catch each recondite allusion.'

(Kenneth Allot, Contemporary Verse, Preface, page 20)

इलियट को ध्वनि से मोह है। अनुभूति को वह गौण स्थान प्रदान करता है। काव्यानुभूति के अभाव को वह पूर्ववर्ती कवियों के उद्धरणों से पूर्ण करता है। इलियट के बारे में 'कहीं की ईंट, कहीं का रोड़ा, भानुमति ने कुनबा जोड़ा' लोकोक्ति पूर्णतया चरितार्थ होती है। इलियट ने फ्रेन्च प्रतीकवादियों से भी बहुत कुछ ग्रहण किया है, साथ ही स्पेन के कवियों की विशिष्ट प्रवृत्तियों से प्रभावित है। स्पेन में नव्य आन्दोलन का सूत्रपात जूआँन रामॉन की प्रतीकात्मक शैली से हुआ। माईगुल डी यूनामूनो का स्थान आधुनिकता और परम्परा के मध्य आता है। यद्यपि उसकी पद्धतियाँ टॉमस हार्डी से कम क्रान्तिकारी नहीं थीं। यूनामूनो की अधिकांश कविताएँ ईसा को सम्बोधित, लेकिन ठोस कल्पना से विहीन हैं। टी० एस० इलियट 'ऊसर भूमि' में इस कवि से प्रभावित हुआ है, लेकिन यूनामूनो का मार्ग इलियट के सदृश प्रशस्त नहीं हो पाया था।

यूनामूनो के पश्चात् उसका शिष्य एण्टोनियो मेकाडों ने भी प्रकृति के नयनगोचर भव्य तथा सश्लिष्ट चित्र उपस्थित किए हैं। ये दृश्य इलियट के प्रकृति चित्रों से साम्य रखते हैं। लेकिन मेकाडो समय के सीमित दायरों में बंधकर रह गया। कहीं-कहीं उसका श्रेष्ठतम सर्जन झलकता है। इसके अलावा इलियट अनेक कवियों का ऋणी रहा है। अपनी रचनापद्धति के बारे में उसने स्वयं स्वीकार किया है कि 'नौसिखिये कवि नकल करते हैं, प्रौढ़ चुराते हैं।' नई कविता में इलियट का कथन पूर्णतया चरितार्थ हो रहा है। इलियट, सार्त्रे, मूनियर, कमिंग्स आदि के ऋणी होते हुए भी नये कवि आत्मवंचना के शिकार हो रहे हैं।

अज्ञेय की कला का निर्वैयक्तीकरण इलियट की देन है। इलियट का जीवन-दर्शन निराशा, अनास्था, अकर्मण्यता का है जिससे वह असामाजिक हो गया है। 'वेस्टलैण्ड' में निराशा, संस्कृति के विघटनशील तत्त्व, कुत्साएँ, कुण्ठाएँ, मानवद्रोही तत्त्व मिलते हैं। निःशेष मानव में निराशा, अवसाद चरम सीमा पर हैं :

> We are the hollow men
> We are the stuffed men
> Leaning together
> Headpiece filled with straw, Alas
> Our dried voices, when
> We whisper together
> Are quiet and meaningless
> As wind in dry grass
> Or rat's feet over broken glass
> In our dry cellar
> Shape without form, shade without colour
> Paralysed force, gesture without motion.

'मैं वृद्ध हो गया हूँ, मुझे पतलून की मोहरियाँ मोड़कर पहनना चाहिए। बालों में माँग कैसे निकालूँ ? क्या नाशपाती खाना उचित होगा ? मैं सफेद फलालैन की पतलून पहनकर सागर-तीर अवश्य आऊँगा। सुनते हैं—सागर की परियाँ प्रतिध्वनित संगीत सुनाती हैं। लेकिन मैं जानता हूँ—वह संगीत मैं नहीं सुन पाऊँगा।' यानि मैं कवि कुण्ठा और प्रयोजनहीनता में छटपटाता है। धर्मवीर भारती से प्रकाशित 'अन्धायुग' में घोर निराशा, अवसाद के चित्रण में इलियट से बहुत साम्य है :

हम सबके मन में गहरा गया है युग,
अँधियारा है, अश्वत्थामा है, संजय है;
है दासवृत्ति उन दोनों वृद्ध प्रहरियों की,
अन्धा संशय है, लज्जाजनक पराजय है।[1]

इलियट ने अभिनव भाषा, नवीन मुहावरे, नये शब्दों को प्रयुक्त किया। इलियट की मान्यता रही है कि कवि को अन्योक्ति कथन द्वारा संश्लिष्ट चित्रण करना चाहिए। यदि अनिवार्य हो तो भाषा को तोड़ने, मरोड़ने में भी कोई कसर नहीं होनी चाहिए। अज्ञेय ने इसे स्वीकार किया है कि आज की भाषा, विचारों की अभिव्यक्ति के लिए अनुपयुक्त है। अतः आड़ी, टेढ़ी, विराम-रेखाओं के माध्यम से विचारों की व्यंजना होनी चाहिए। 'प्रेम की ट्रैजेडी' कविता में इसे आसानी से देखा जा सकता है। इलियट की तरह, बिम्ब और विरोधी चित्रों के कारण प्रयोगवाद की भाषा भी क्लिष्ट हो गई है।

इलियट के A music of ideas का नई कविता में 'अर्थ की लय' के रूप में अनुवाद कर दिया गया है। इलियट ने नई उपमाएँ प्रस्तुत की हैं। उसने जीवन को कॉफी के चम्मचों से नापा है।[2] अब हिन्दी के नये कवि भी नाप रहे हैं। इलियट ने जिस प्रहेलिका शैली को अपनाया, उसने अज्ञेय के काव्य को सौन्दर्य प्रदान किया।

इलियट असम्पृक्त तात्कालिक क्षण में भूत और भविष्य का सामंजस्य करता है। उसका विश्वास है कि किसी का अन्त उसकी मृत्यु है।[3] इलियट को जहाँ 'क्षण' का महत्त्व है, नया कवि उसे त्याग नहीं पाया है:

---

१. धर्मवीर भारती, अन्धायुग, पृष्ठ १३०।
२. I have measured out my life with coffee spoons.
३. On what eve spere of being
The mind of man may be intent
And the time of death is every moment
Which shall fructify in the lines of others.
(T. S. Eliot, 'Four Quartats', The dry salvages, P. 31)

एक क्षण-भर और
रहने दो मुझे अभिभूत
फिर जहाँ मैंने संजोकर और भी सब रखी हैं
ज्योति-शिखाएँ
वहीं तुम भी चली जाना
शान्त तेजोरूप।
एक क्षण-भर और—
लम्बे सर्जना के क्षण कभी भी हो नहीं सकते।[1]

इस प्रकार नई कविता में इलियटवाद की प्रचुरता है। इलियट के विचारों ने काव्य पर मंडराकर ऐसे स्थल खोज निकाले हैं जहाँ वे खप सके हैं।

---

१. अज्ञेय, हरी घास पर क्षण-भर, पृष्ठ १०१।

हत्या के बाद एक माँ के शव को उसके द्वार पर छोड़ सकते हैं।[1]

गृह युद्ध की जन-घटनाओं को देखकर 'येट्स' की वैयक्तिक चेतना में आकस्मिक आश्चर्य जागृत हो गया—

सम्पूर्ण परिवर्तित हो गया, पूर्णरूपेण परिवर्तन,
एक भयानक सुन्दरता का जन्म हुआ है।[2]

यही ध्वनि येट्स के 'सिक्सटीन डेड मेन' में दृष्टिगोचर होती है—

ओह जैसा कि पहले हमने विशद रूप में कहा था,
सोलह व्यक्तियों की मृत्यु हो गई,
लेकिन आदान-प्रदान की कौन बातें कर सकता है,
कि क्या होना चाहिए, क्या नहीं,
जब कि ये मृत व्यक्ति वहाँ कामभोग कर रहे हैं,
उबलते बर्तन का मंथन करने हेतु ?[3]

प्रथम विश्व-युद्ध के २०-२५ वर्ष पूर्व से ही संचित मानव-मूल्यों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित हुआ। सम्भवतया विश्व-युद्धों ने इन पर अन्तिम प्रबल आघात किया। युद्ध की विभीषिका के सहयोग से विभीषिका और युद्धजन्य कुप्रभावों का विशद रूप से वर्णन हुआ। लारेंस ने इस ओर संकेत किया है "सन् १९१५ में विश्व

---

१. We too had many pretty toys when young;
A law indifferent to blame or praise,
to brike or threat ......
Now days are dragon-ridden, the nightmare
Rides upon sleep; a drunken soldiery
Can leave the mother, murdered at her door.
W. B. Yeats.

२. All changed, changed utterly,.......
A terrible beauty is born, ...IBID.

३. O but we talk at large before,
The sixteen men were shot,
But who can talk of give and take.
What should be and what not
While there dead men are loitering there
To stir the boiling pot.... (W. B. Yeats).

की प्राचीनता का लोप हो गया। १६१५-१६ के शीतकाल में प्राचीन लन्दन की आत्मा नष्ट हो गई। लन्दन विश्व का केन्द्र होने पर भी नष्ट हो गया, तथा खण्डित धैर्य, काम-वासना, आशाओं, भय, हाहाकारों का चक्रवात बन गया।[१]

विलफ्रेड ओवेन, सिगफ्रिड सैसून, रुपर्ट ब्रुक की कविताएँ इस कथन की साक्षी हैं। ओवेन की वैयक्तिक अभिरुचि और शैली १६वीं शताब्दी की थी। वस्तुतः इलियट और इजरापाउण्ड की तरह वह साहित्यिक-बौद्धिक नहीं था। युद्ध ने, जो कि असाहित्यिक घटना थी, उसे कवि बन जाने के लिए विवश कर दिया था। ओवेन की कविताओं में सैसून की तरह उग्रता और हिंसात्मकता नहीं है। फिर भी उसने युद्धजनित निराशा, अनास्था का मर्मग्राही चित्रण किया है—

हमारी सशस्त्र सैनिक टुकड़ी,
इस समय उसे ले आई, मृत्यु का वार चूका नहीं।
केवल बहते हुए रक्त को पोंछने के सिवा हम कुछ न कर सके।
क्या यह दुर्घटना थी ? बन्दूक चूक गई"""
क्या अस्त्राघात था ? नहीं, (पोस्ट मार्टम से पता चला कि
गोली अंग्रेजों की थी।)[२]

सैसून ने 'काउण्टर अटैक' में युद्ध की विभीषिका, बर्बरता, हिंसात्मक प्रवृत्तियों का बड़ा यथार्थ एवं रोमांचक चित्र खींचा है। इस युद्धकालीन कविता ने मानवीय चेतना को आक्रान्त कर दिया। सुप्त मानसों को झंझोड़ डाला। समस्त मर्यादाओं, नैतिक धारणाओं, धार्मिक अवस्थाओं को तोड़ डाला। रुपर्ट ब्रुक को मदोन्मत्त सैनिकों के उन भयावह कृत्यों से कोई सहानुभूति नहीं है। तभी वह कहता है :

---

१. It was in 1915 the old world ended. In the winter of 1915-1916 the spirit of old London collapsed; the city, in some way, perished, perished from being the heart of the world, and become a vortex of broken passions, lusts, hopes, fears, and horrors. (Lawrence).

२. Our down, our wire Patrol
Carried him this time, death had not missed.
We could do nothing but wipe his bleeding cough
Could it be a accident ? refiles go off..........
Not suiped ? No.
(later they found the English ball)

हत्या के बाद एक माँ के शव को उसके द्वार पर छोड़ सकते हैं।[1]

गृह युद्ध की जन-घटनाओं को देखकर 'येट्स' की वैयक्तिक चेतना में आंतर आश्चर्य जाग्रत हो गया—

> सम्पूर्ण परिवर्तित हो गया, पूर्णरूपेण परिवर्तन,
> एक भयानक सुन्दरता का जन्म हुआ है।[2]

यही ध्वनि येट्स के 'सिक्सटीन डेड मेन' में दृष्टिगोचर होती है—

> ओह जैसा कि पहले हमने विशद रूप में कहा था,
> सोलह व्यक्तियों की मृत्यु हो गई,
> लेकिन आदान-प्रदान की कौन बातें कर सकता है,
> कि क्या होना चाहिए, क्या नहीं,
> जब कि वे मृत व्यक्ति वहाँ कालक्षेप कर रहे हैं,
> उबलते बर्तन का मंथन करने हेतु ?[3]

प्रथम विश्व-युद्ध के २०-२५ वर्ष पूर्व से ही खण्डित मानव-मूल्यों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित हुआ। सम्भवतया विश्व-युद्धों ने इन पर अन्तिम प्रबल आघात किया। युद्ध की विभीषिका के सहयोग से विभीषिका और युद्धजन्य कुप्रभावों का विशद रूप से वर्णन हुआ। लारेंस ने इस ओर संकेत किया है "सन् १९१५ में विश्व

---

१. We too had many pretty toys when young;
A law indifferent to blame or praise,
to brike or threat ......
Now days are dragon-ridden, the nightmare
Rides upon sleep; a drunken soldiery
Can leave the mother, murdered at her door.
W. B. Yeats.

२. All changed, changed utterly, ...
A terrible beauty is born, ...IBID.

३. O but we talk at large before,
The sixteen men were shot,
But who can talk of give and take.
What should be and what not
While there dead men are loitering there
To stir the boiling pot.... (W. B. Yeats).

की प्राचीनता का लोप हो गया। १६१५-१६ के शीतकाल में प्राचीन लन्दन की आत्मा नष्ट हो गई। लन्दन विश्व का केन्द्र होने पर भी नष्ट हो गया, तथा खण्डित धैर्य, काम-वासना, आशाओं, भय, हाहाकारों का चक्रवात बन गया।[१]

विलफ्रेड ओवेन, सिगफ्रिड सैसून, रुपर्ट ब्रूक की कविताएँ इस कथन की साक्षी हैं। ओवेन की वैयक्तिक अभिरुचि और शैली १६वीं शताब्दी की थी। वस्तुतः इलियट और इजरापाउण्ड की तरह वह साहित्यिक-बौद्धिक नहीं था। युद्ध ने, जो कि असाहित्यिक घटना थी, उसे कवि बन जाने के लिए विवश कर दिया था। ओवेन की कविताओं में सैसून की तरह उग्रता और हिंसात्मकता नहीं है। फिर भी उसने युद्धजनित निराशा, अनास्था का मर्मग्राही चित्रण किया है—

> हमारी सशस्त्र सैनिक टुकड़ी,
> इस समय उसे ले आई, मृत्यु का वार चूका नहीं।
> केवल बहते हुए रक्त को पोंछने के सिवा हम कुछ न कर सके।
> क्या यह दुर्घटना थी? बन्दूक चूक गई'''''
> क्या अस्त्राघात था? नहीं, (पोस्ट मार्टम से पता चला कि
> गोली अंग्रेजों की थी।)[२]

सैसून ने 'काउण्टर अटैक' में युद्ध की विभीषिका, बर्बरता, हिंसात्मक प्रवृत्तियों का बड़ा यथार्थ एवं रोमांचक चित्र खींचा है। इस युद्धकालीन कविता ने मानवीय चेतना को आक्रान्त कर दिया। सुप्त मानसों को झंझोड़ डाला। समस्त मर्यादाओं, नैतिक धारणाओं, धार्मिक अवस्थाओं को तोड़ डाला। रुपर्ट ब्रूक को मदोन्मत्त सैनिकों के उन भयावह कृत्यों से कोई सहानुभूति नहीं है। तभी वह कहता है :

---

१. It was in 1915 the old world ended. In the winter of 1915-1916 the spirit of old London collapsed; the city, in some way, perished, perished from being the heart of the world, and become a vortex of broken passions, lusts, hopes, fears, and horrors. (Lawrence).

२. Our down, our wire Patrol
Carried him this time, death had not missed.
We could do nothing but wipe his bleeding cough
Could it be a accident ? refiles go off.............
Not suiped ? No.
(later they found the English ball) (Owen).

खण्डित बिम्बों का पुञ्ज, जहाँ सूर्य तप्त करता है।
मृत वृक्ष छायाहीन है, भींगुर बेचैन हैं,
एवं शुष्क पाषाणों से रसधार की ध्वनि नहीं आती है।[१]

इलियट के अनुसार उनकी इच्छा-शक्ति कुण्ठित है। वस रूपहीन मानव की शक्ति लकवा से पंगु हो गई है:

रूपहीन आकृति, वर्णहीन छाया,
लकवा से पंगु शक्ति, गतिहीन अंगविक्षेप।[२]

आज का मानव भूलभुलैया में भटक रहा है:

मैं सोचता हूँ हम भटकी राहों में हैं,
जहाँ मृत व्यक्तियों ने अस्थियों के अवशेष खो दिए हैं।[३]

इस विश्व में आस्था के आईसोलडस शिप का कोई चिन्ह नहीं है। सर्वत्र रिक्त शून्य सागर है, जो प्रेम के अभाव का द्योतक है। ऊसर भूमि के निवासी बसन्त की अपेक्षा शीत अधिक चाहते हैं। आजकल नगरों का गतिशील जीवन चेतन और अचेतन के मध्य स्पन्दनशील टैक्सी के समान है।[४] आज का व्यक्ति न तो जीवित है, न ही मृत। ज्ञान-शून्य-सा नीरवता के साथ प्रकाश की ओर झांक रहा है।[५] इसी तरह जगत् समाप्त हो जाता है। लेकिन मनुष्य धूमधाम से नही मर सकता, केवल सिसकी-भर निकल सकती है।

निःशेष मानव (The Hollow men) में कवि कहता है: "हम निःशेष

---

१. A heap of broken images, where the sun beats,
And the dead tree gives no shelter, the Cricket no relef,
And the dry stone no sound of water. (Waste Land)

२. Shape without form, shade without colour,
Paralysed force; gesture without motion. (ibid)

३. I think we are in rats alley,
Where the dead men lost their bones (ibid)

४. At the violet hour, where the eyes and back
Turn upward from the desk, when the human engine waits
Like a taxi throbbing waiting,
I Tresias, though blind, throbbing between two lives. (ibid)

५. I was neither living nor dead, and I know nothing,
Looking in the heart of light, the silence. (ibid)

पूर्णरूप से औद्योगीकरण नहीं हुआ, न ही दोनों महायुद्धों ने संस्कृति पर कोई आघात किया। केवल आर्थिक व्यवस्था में किंचित् उलट-फेर हुए। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में भी हिंसा को गौण स्थान प्राप्त हुआ। फलस्वरूप भारत में सांस्कृतिक विघटन होने का प्रश्न ही नहीं था। यद्यपि मानवीय चेतना के जिस धरातल को पाश्चात्यवासी छू सके हैं, उसे अभी तक भारतवासी नहीं। अतः चेतना की वह धीरे-धीरे भारत की ओर बढ़ रही है। अनुकरण-मात्र के आधार पर ही इलियट, येट्स, सार्त्र, मूनियर, कमिंग्स, इज़रा पाउंड से प्रभावित होकर हिन्दी के कुछ कवियों ने सांस्कृतिक विघटन का कृत्रिम वातावरण तैयार कर दिया है। धर्मवीर भारती ने 'अन्धायुग' में विघटनशील तत्वों का विशद वर्णन किया है। 'वेस्टलैंड' की तरह 'अन्धायुग' में भी पौराणिक आख्यान के आधार पर आधुनिक कुंठाओं, विद्रूपों, निराशाओं का प्रतीकात्मक आधार पर वर्णन किया गया है—

> उस दिन जो अन्धा युग अवतरित हुआ जग पर,
> बीतता नहीं रह-रहकर दोहराता है,
> हर क्षण होती है प्रभु की मृत्यु कहीं न कहीं,
> हर क्षण अँधियारा गहरा होता जाता है,
> हम सबके मन पर गहरा उतर गया है युग,
> अँधियारा है, अश्वत्थामा है, संजय है,
> है दास वृत्ति उन दोनों वृद्ध प्रहरियों की,
> अन्धा संशय है, लज्जाजनक पराजय है।[1]

वर्तमान युग के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक संघर्ष तथा ... तन्त्रता की मांग और शून्य हृदय की चीखों और पुकारों ने नये कवि को ... र अवसाद के कुहरे से लपेट दिया है। विकलता के बन्धन में बंधा ... हा है। निराशाजन्य अनुभूतियां ही उसके पास व्यक्त करने को शेष ... आस्थाविहीन समाज किस ओर प्रवृत्त होता जाएगा यह समझ में नहीं ... कवि को न जाने क्या दुःख मिला है। वह जीवित रहते हुए भी ... समान मानता है।[2] टीस, निराशा, कसक, वेदना, अन्तर्द्वन्द्व, अवसाद, ... विकलता, असहायता, विवशता से आबद्ध कवि मानस अपने को ... के समान तुच्छ मानता है, जो किसी भी क्षण बह जाने की अवस्था में है।

---

१. धर्मवीर भारती, 'अन्धायुग,' पृष्ठ १३०।
२. [illegible] ' पृष्ठ ७९।

मानव हैं, हमारे दिमाग में भूसा भरा हुआ है।" जो आज के मानव की शून्यता: खोखलेपन की ओर संकेत करता है।

इलियट के परवर्ती कवि हमराताउण्ड, इलियट-येट्स की धरोहर को अमर करते रहे। व्यथाओं के युग (एज ऑफ एंग्जाइटीज़) में ऑडेन ने युद्धकालीन आधुनिक चेतना, जो कि निर्मूल, एकान्त-प्रिय, अरक्षित है तथा भय, लज्जा और असफलता की चेतना द्वारा शासित है, के निर्माण का प्रयास किया है:

हम जर्जर हो जायेंगे, पर बदलेंगे नहीं,
क्षण के 'क्रास' पर चढ़ने की अपेक्षा
हम अपने त्रास में मृत्यु का वरण कर लेंगे,
किन्तु अपने भ्रमजालों को नष्ट न होने देंगे।[१]

ऑडेन ने दूसरे स्थान पर कहा है कि आज के प्रत्येक व्यक्ति के चेहरे पर बौद्धिक लज्जा झलकती है। उमड़ता हुआ दया का सागर प्रत्येक की आंख में जकड़ गया है तथा जम गया है। ऑडेन मृत्यु, उत्पीड़न से अत्यन्त भयभीत था:

साँझ,
जबकि भय का पहरा बढ़ जाता है,
त्रास के सिंह छाया में से लम्बे डग भरते आते हैं,
और हमारे घुटनों पर उनका थूथुन स्पर्श करता है,
और मृत्यु अपनी पुस्तक बन्द कर देती है।[२]

डगलस ने भी मृत्यु की विभीषिका को लेकर अनेक कविताएँ लिखी हैं:

दृष्टिहीन आकृतियाँ
कोरों पर स्रवित अश्रु की तरह भग्न आँखें,
एक मृत अकेला तालाब,

---

१. We would rather be ruined
We would rather die in our dread
Then climb the cross of moment
And let our illusions die. (W. H. Auden)

२. Evening when
Fear gave his watch no look;
The lions of grief leop from the shade
And on our knees their muzzles laid
And death put down his book (ibid)

झुका हुआ है जहाँ गर्तों का अस्तित्व,
मैं पाषाण के सदृश पैरों को जल के भीतर देखता हूँ,
तर्क की क्षुद्र मछलियाँ जमा होकर गोश्त नोंचती हैं,
यह कल्पना करके कि मैं भी एक मृतक हूँ।[1]

औद्योगिक युग की कर्कशता ने यूरोपीय काव्य में संवेदनाओं को बहरा बना दिया। बाह्य शान्ति के भीतर विस्फोटक ज्वालामुखी धधकता रहा। नई पीढ़ी उससे आक्रान्त हुई। अमेरिका की 'पराजित पीढ़ी' और इंग्लैण्ड के 'क्रुद्ध युवक' इसी प्रकार के काव्य की सर्जना करते रहे। पाश्चात्य जगत् की अनास्था, कुण्ठा, निराशा में फ्रॉयड, एडलर, युङ्ग के मनोविश्लेषणकारी तत्त्वों ने पूर्ण सहयोग दिया। वैज्ञानिक आविष्कारों से जीवन इतना गतिमय हो गया कि नया कवि पुरानी कविता की भाव-प्रवलित शैली तथा भाव-प्रवणता को छोड़ कर बौद्धिकता की ओर उन्मुख हो गया। कल्पना-प्रधान काव्य और वैज्ञानिक प्रगति के मध्य निरन्तर संघर्ष होता रहा जिससे बौद्धिकता प्रबल हुई। जैसे-जैसे बौद्धिकता का प्रसार हुआ वैसे ही ईश्वर और धर्म पर से आस्था उठ गई और अनास्था के स्वर वेग से मुखर होने लगे। मार्क्सवादी विचारधारा ने जहाँ ईश्वर और धर्म का विरोध किया, वहाँ वैज्ञानिक बुद्धिवाद ने उसके अस्तित्व का पूर्णतया लोप कर दिया। बौद्धिकता से तार्किक शक्ति का अभ्युदय हुआ, जिसने धर्म और ईश्वर के प्रति अनास्था के साथ मिलकर नैतिक बन्धनों को शिथिल कर दिया। व्यक्ति का 'स्व' प्रबल हुआ। मानव-मूल्यों के विघटन के साथ मिलकर इस 'स्व' ने अनेक कलेवर धारण किये। पाश्चात्य जगत् की इन ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों ने हिन्दी के नये काव्य को प्रभावित किया।

इधर, भारतीय संस्कृति की अपनी विशिष्टता रही है। कितने ही विदेशी आक्रमणकारियों का यहाँ प्रभुत्व रहा, लेकिन अभेद्य दुर्ग की तरह भारतीय संस्कृति अटल रही। पाश्चात्य जगत् में व्याप्त सांस्कृतिक विघटन के मूल कारणों ने भारतीय संस्कृति को उतना प्रभावित नहीं किया जितना विघटनजन्य काव्य ने। भारत में

---

१. Faces with sighless doors
For eyes, with cracks like tears,
Oozing at the corners. A dead tank alone
Hears where the gossips stood
I see my feet like stones
Under water, the logical little fish
Converge and nip the flesh
Imagining I am one of the dead. (Douglas)

पूर्णरूप से योरोपीकरण नहीं हुआ, न ही दोनों महायुद्धों ने संस्कृति पर कोई प्रभाव किया। केवल धार्मिक व्यवस्था में किंचित उलट-फेर हुए। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में भी हिंसा को गौण स्थान प्राप्त हुआ। फलस्वरूप भारत में सांस्कृतिक विघटन होने का प्रश्न ही नहीं था। यहाँ मानवीय चेतना के जिस पतन को पाश्चात्यवासी छू गये हैं, उसे अभी तक भारतवासी नहीं। हाँ, चेतना की लहर धीरे-धीरे भारत की ओर बढ़ रही है। अनुकरण-मात्र के आधार पर ही इलियट, येट्स, सार्त्र, मुनियर, कामू, इत्यादि पाश्चात्य से प्रभावित होकर हिन्दी के कुछ कवियों ने सांस्कृतिक विघटन का कृत्रिम वातावरण तैयार कर दिया है। धर्मवीर भारती ने 'अन्धायुग' में विघटनशील तत्वों का विशद वर्णन किया है। 'वेस्टलैंड' की तरह 'अन्धायुग' में भी पौराणिक आख्यान के आधार पर आधुनिक कुण्ठाओं, विकृतियों, निराशाओं का प्रतीकात्मक आधार पर वर्णन किया गया है—

> उस दिन जो अन्धा युग अवतरित हुआ जग पर,
> बीतता नहीं रह-रहकर दोहराता है,
> हर क्षण होती है प्रभु की मृत्यु कहीं न कहीं,
> हर क्षण अँधियारा गहरा होता जाता है,
> हम सबके मन पर गहरा उतर गया है युग,
> अँधियारा है, अश्वत्थामा है, संजय है,
> है दास वृत्ति उन दोनों वृद्ध प्रहरियों की,
> अन्धा संशय है, लज्जाजनक पराजय है।[1]

वर्तमान युग के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक संघर्ष तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता की मांग और शून्य हृदय की चीखों और पुकारों ने नये कवि को निराशा और अवसाद के कुहरे से लपेट दिया है। विकलता के बन्धन में बंधा कवि छटपटा रहा है। निराशाजन्य अनुभूतियाँ ही उसके पास व्यक्त करने को शेष रही हैं। आस्थाविहीन समाज किस ओर प्रवृत्त होता जाएगा यह समझ में नहीं आता। नये कवि को न जाने क्या दुःख मिला है। वह जीवित रहते हुए भी अपने को मृतक समान मानता है।[2] टीस, निराशा, कसक, वेदना, अन्तर्द्वन्द, अवसाद, उदासी, दुःख, विकलता, असहायता, विवशता से आबद्ध कवि मानस अपने को नदी-तल की रेत के समान तुच्छ मानता है, जो किसी भी क्षण बह जाने की अवस्था में है।[3] कभी

---

१. धर्मवीर भारती, 'अन्धायुग,' पृष्ठ १३०।
२. अज्ञेय, 'इन्द्र धनु रौंदे हुए थे,' पृष्ठ ७९।
३. धर्मवीर भारती, सात गीत वर्ष, पृष्ठ १२३।

मानसिक मनोवेगों की घनीभूत पीड़ा असमय में ही जर्जर वृद्धपन ला देती है, जिससे तन, मन, धन, की समस्त चेतना अवरुद्ध हो जाती है ।[1] कभी वह भयावह कल्पना करने लगता है—

> एक दिन जब,
> मेरा माथा टूट जायेगा,
> आँखें सूख जायेंगी,
> छाती दरक जायेगी,
> हाथ फूट जायेंगे,
> पैर गल जायेंगे,
> नदी-वेग से बह जायेगा, रक्त
> धज्जियों से उड़ जायेगा मांस
> एक दिन जब ।[2]

इसके अलावा हिन्दी की नई कविता में अभिव्यजना-रूढ़ि अपना गहरा असर कर चुकी है। एक ने 'अन्धा युग' लिखा, दूसरे 'अन्धी पुत्रियों,' 'अन्धी आस्थाओं,' 'अन्धी गली,' 'अन्धी प्रतीक्षाओं,' से सम्बन्धित कविताएँ लिखना प्रारम्भ कर देते हैं। उनके वक्तव्यों में 'हम नन्हे-छोटे लोग,' 'हम सब बौने हैं,' 'हम लघु हैं,' 'हम नगण्य हैं,' 'हम जारज हैं,' 'हम भ्रूण हैं,' हमारे हाथों में 'टूटी तलवार की मूठ है' की ध्वनि उनकी विघटन प्रवृत्तियों की ओर संकेत करती हैं। जहाँ तक समाज के प्रतिबिम्ब का प्रश्न है, ये कविताएँ उससे बहुत दूर हैं। पूरा समाज तो जारज, भ्रूण नहीं है, या उसका मांस धज्जियों से नहीं उड़ रहा है, फिर नये कवि क्यों इस प्रकार पाश्चात्य कविता की अन्धाधुन्ध नकल कर रहे हैं? यूरोप में सांस्कृतिक विघटन की जो अवस्था चल रही थी उससे भारत काफी दूर है। चीनी-आक्रमण के पश्चात् भी भारत में वह अवस्था नहीं आने पाई है।

---

१. धर्मवीर भारती, ठंडा लोहा, पृष्ठ ५१ ।

३

यौन परिकल्पनाएँ और हिन्दी की नयी कविता

हिन्दी काव्य के लिए यौन परिकल्पनाएँ अभिनव वस्तु नहीं हैं। इसकी एक दीर्घ परम्परा रही है, जिसका प्रारम्भिक सूत्र संस्कृत काव्य से उपलब्ध होता है। कालिदास से जयदेव तक शृंगार विषयक रचनाओं में, विशिष्टया संयोग पक्ष के अन्तर्गत क्रीड़ाओं, हाव-भाव प्रदर्शन, आलिंगन, प्रिय समागम का वर्णन पर्याप्त रूप में हुआ है। इस युग के परिपार्श्व में सामन्ती अबाध विलासिता प्रेरणादायिनी शक्ति के रूप में कार्य कर रही थी। उसी वातावरण से अनुप्राणित होकर तदनुरूप साहित्य की सर्जना हो रही थी। कालिदास के 'कुमार सम्भव,' 'रघुवंश,' 'ऋतुसंहार' में यह प्रवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित होती है। जयदेव ने भी गीत गोविन्द में अबाध विलास, रति क्रीड़ा, वासनामय चित्रण को प्रधानता दी है। उक्त ग्रन्थ में श्रीकृष्ण किसी गोपी का आलिंगन करते हैं। किसी के साथ विहार करते हैं। किसी को मृदु मुस्कान से देखते हैं।

ईसा की दसवीं शताब्दी तक की इस विलुप्त, क्षारावेष्टित अंगारवत् धारा को हिन्दी की रीतिकालीन धारा ने पुनः प्रज्ज्वलित किया। इन दोनों युगों की परिस्थितियों में अद्भुत साम्य था। फलस्वरूप शृंगारपरक रचनाओं में नायक-नायिकाओं को कामोद्दीपन क्रीडाओं, केलि क्रीड़ाओं का मुक्त रूप से चित्रण हुआ। १६ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में रीतिबद्ध कविता से विचित्र क्लीवता फैल गई थी। वासना के वेगमय उफान से मथित, जर्जर राजाओं की विलासप्रियता ने उसमें आहुति का कार्य किया। इस सामन्तीकाव्य के मेरुदंड के टूटते ही, आरोहण की ओर अग्रसर हिन्दी कविता ने नया परिवेश धारण किया, जिसमें यौन-परिकल्पनाओं का तृतीय उत्थान है।

दिया। स्त्रियाँ भी पुरुषों की तरह युद्ध कार्यों में सलग्न रहीं, जिससे उनकी भाव में वृद्धि होने से वैवाहिक जीवन विशृंखल हो गया, क्योंकि उन्हें वैवाहिक जीवन से वितृष्णा हो गई थी। युद्धोत्तर आर्थिक विपन्नता ने पारिवारिक जीवन की दीवारों को ढहा दिया, जिससे स्वच्छन्दता के साथ-साथ यौन-उच्छृंखलता को प्रश्रय मिला। सन्तति निग्रह के नवीन तथा सफल साधनों ने सामाजिक व्यभिचार को चरम सीमा पर पहुँचा दिया।

वैज्ञानिक अन्वेषणों से भौतिकवाद उद्भूत हुआ। हर विषय को भौतिकवाद की दृष्टि से देखा गया। भौतिकवाद ने चली आई परम्पराओं और मान्यताओं को खंडित कर दिया। इससे वैज्ञानिक बौद्धिकता प्रादुर्भूत हुई। यह बौद्धिकता इतनी प्रबल हो गई कि धर्म और ईश्वर पर अविश्वास किया जाने लगा।[१] ईश्वरीय भय तथा ईश्वरीय अस्तित्व के लोप होने से नैतिक बंधन शिथिल हो गये। नैतिकता का पतन ही उच्छृंखलता का द्योतक होता है जिससे विकृतियाँ उद्भूत हो जाती हैं।

मशीन युग की कर्कशता ने मानवीय संवेदनाओं का हनन कर, वैषम्य को जन्म दिया। पूँजीपति वर्ग के अनैतिक हथकंडों ने व्यभिचार फैलाने में योग दिया साथ ही श्रमिक वर्ग की आर्थिक विपन्नता ने यौन सम्बन्धों के अलावा अन्य मनोरंजन के साधनों का मार्ग अवरुद्ध कर दिया।

तभी मनोविश्लेषण का आश्रय लेकर फ्रायड ने पदार्पण किया। उसकी मान्यताओं ने काव्य तत्व तथा काव्य प्रकृति पर सबसे अधिक प्रभाव डाला। उसकी यौन परिकल्पनाओं ने काव्य को जिस रूप में आक्रान्त किया, उससे विद्रोह होता है। यौनाचार और कामभावना फ्रायड की देन है। पाश्चात्य तथा हिन्दी के नये काव्य में उन्हें यथेष्ट मात्रा में ग्रहण किया गया है। उसने विवर्जित यौन कुंठाओं के यथार्थवादी धरातल पर मानव की शल्यक्रिया की है। फ्रायड का विचार है—

१—कलासृजन के मूल में कलाकार की दमित एवं कुण्ठित काम-प्रवृत्तियों की

---

१. प्रो० हेरस का इस बारे में मत है—

Science has certainly been in part responsible for the growth of a spirit to examine themselves and remould their arguments, science has therefore tended to depress many who, without accepting materialistic opinions, have been affected by the march of thought, On the whole we may say that science has tended positivism, agnositicism, and in a word to a negative view of things spiritual."

सत्ता होती है। ये वृत्तियाँ विविध प्रकार की बाह्य वर्जनाओं के कारण अवचेतन मन में दमित अवस्था में होती हैं। मार्ग प्रशस्त होने पर विकास का मार्ग खोज लेती हैं। अतः सम्पूर्ण कला अवचेतना, अथवा अवचेतन में दमित तथा कुण्ठित कामुक वृत्तियों की अभिव्यक्ति है। यदि सामाजिक तथा बाह्य प्रतिरोधों से इन वृत्तियों का दमन है, तो अनेक मानसिक व्याधियाँ तथा विकृतियाँ उद्भूत हो जाती हैं।

२—फ्रायड के अनुसार स्वप्न इच्छापूर्ति भर है, जिसका दमन चेतनावस्था में किया जाता है। उसके अनुसार दमित एवं कुण्ठित आकांक्षाएँ अवचेतन में विद्यमान होती हैं, जो सुप्तावस्था में एक-एक करके बाहर निकलने लग पड़ती हैं।

३—फ्रायड का विश्वास था कि दुःखों के केन्द्रीभूतसंगठन को शैशवकालीन यौन (Pre-occupations) चेष्टाओं में खोजा जा सकता है। उसने माता-पिता, शिशु के सम्बन्ध को ऑडिपस कॉम्पलैक्स (Oedipus complex) के नाम से अभिहित किया जिसको उसने ऑडिपस के पौराणिक आख्यान से उद्धृत किया। उक्त पौराणिक आख्यान में ऑडिपस ने पितृहत्या के उपरान्त माता को पत्नी बना लिया था। इस कथा से फ्रायड ने अनुमान लगाया कि यौन भावनाएँ, विपरीत लिंग के साथ सहवास की कामनाएँ, शैशव से ही विद्यमान होती हैं।[1]

फ्रायड के इस यौनवाद ने पाश्चात्य साहित्य को अप्रतिम रूप से प्रभावित किया। साहित्य के चिन्तन का प्रवाह दमित वासनाओं, सुषुप्त चेतनाओं और मुख्यतया यौनभावना की ओर उन्मुख हो गया। अनेक कवि, उपन्यासकार, जीवनीलेखकों ने फ्रायड के सिद्धान्तों का अन्धानुकरण किया। चेतना के मुक्त प्रवाह ने काव्य-रचना-प्रक्रियाओं तथा काव्यात्मक संवेदनाओं को अप्रत्याशित रूप से प्रभावित किया।

इन पतनोन्मुख दुरावस्था का लाभ उठाकर मर्यादाहीन, अनैतिक और विघातक

---

१. फ्रायड का इस बारे में कथन है कि—

"You know it is one of the tasks of analysis to lift the veil of amnesia which shrouds the earliest years of childhood and to bring the expression of infantile sexuality hidden behind it into conscious mind—Now from their first sexual ...ions of anxiety, prohibition, disappointment and punis... ..., one can understand why they have been repressed. ... so, it is difficult to see why they should have such access to the dream life, why they should provide the ... for so many dream fantasies..."

सिद्धान्तों का प्रचार किया गया । इन कतिपय साहित्यकारों ने वैवाहिक जीवन की भर्त्सना की और यौन उच्छृंखलता को प्रतिपादित किया । ग्रेट एलन के उपन्यास "दि वूमेन हू डिड" ने इन विचारों को विज्ञापित किया, एच० जी० वेल्स ने उसका प्रतिपादन और समरसेट मॉम ने "लिजा ऑफ लामबेथ" में उसे अग्रसर किया । डी० एच० लारेंस ने 'लेडी चैटरलीज़ लवर" में उसे चरमसीमा पर पहुँचा दिया ।

लारेंस के उपन्यासों की वर्ण्यवस्तु यौन भावना है । 'दि रेन बो,' वीमन इन लव' 'एरोन्स रोड़' में यौन भावना सम्बन्धी दृष्टिकोण एक निश्चित जीवन-दर्शन के रूप में आया है । 'वीमन इन लव' की भूमिका में उसने कहा है 'मैं सुन्दर और सशक्त प्रतीत होने वाले विषय पर ही लिख सकता हूँ—वह विषय है, स्त्री और पुरुष के बीच यौन सम्बन्ध । इन सम्बन्धों की पुनर्स्थापना तथा पुनर्संमायोजन ही आधुनिक समस्या है ।'[1]

लेकिन यौन भावना का जैसा घोर यथार्थवादी नग्न, और उच्छृंखल चित्रण 'लेडी चैटरलीज़ लवर' में हुआ है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं । इसकी निरावरण, अमर्यादित यौन परिकल्पनाओं ने जितना अपरिपक्व यौन भावनाओं को संस्पर्श कर जागृत किया उतना और किसी उपन्यास ने नहीं । इसी आधार पर इसे जब्त कर लिया गया ।

पाश्चात्य कविता भी फ्रायड के यौनवाद से काफी अनुप्राणित रही—

Sweet, wicked Kisses in your stark
Hate of the white washed day"
Till the winged blood horses of sex
Dead beat and meet their match.

(Barkes, Epithulamium for two friends)

यह तो हुआ पाश्चात्य साहित्य पर प्रभाव, परन्तु हिन्दी की नई कविता और कथासाहित्य पर इसका प्रभाव भी अपरिचित और अछूता नहीं है । डी० एच० लारेंस के उपन्यासों की प्रतिच्छाया 'अज्ञेय' के 'नदी के द्वीप' तथा 'शेखर एक जीवनी' पर देखी जा सकती है । इन उपन्यासों में भी यौन भावना उतनी ही वेगमय बनकर व्यक्त हुई है ।

---

१. दूसरे स्थान पर फ्रायड का कथन है कि—
"A character will find himself after physical love, 'shattered' as well as 'satisfied,' Love must be a fusion of spirit sunk in the potent darkness,"

हिन्दी की नई कविता पर फ्रायड के यौनवाद और लारेंस की यौन परिकल्पनाओं का अधिक प्रभाव पड़ा है। 'अज्ञेय' ने 'तार सप्तक' की भूमिका में इसे स्पष्ट किया है—

"आधुनिक युग का साधारण मनुष्य यौन वर्जनाओं का पुंज है। उसके जीवन का एक पक्ष है, उसकी सामाजिक रूढ़ि की लम्बी परम्परा, जो परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ विकसित नहीं हुई, और दूसरा पक्ष है स्थिति परिवर्तन की असाधारण तीव्र गति, जिसके साथ रूढ़ि का विकास असम्भव है। इस विपर्यय का परिणाम है कि आज के मानव का मन यौन-परिकल्पनाओं से लदा हुआ है और वे कल्पनाएँ दमित हैं, कुंठित हैं। उसकी सौन्दर्यचेतना भी इससे आक्रान्त है। उसके उपमान सभी प्रतीकार्थ रखते हैं।—और इस आभ्यंतरिक संघर्ष के ऊपर जैसे काठी कसकर एक बाह्य संघर्ष बैठा है, जो व्यक्ति या व्यक्ति का नहीं, व्यक्ति समूह और व्यक्ति समूह का, वर्ग और श्रेणियों का संघर्ष है। व्यक्तिगत चेतना के ऊपर वर्गगत चेतना भी लदी हुई है।"

साधारण मनुष्य को यौन-वर्जनाओं का पुंज कहना आधुनिक मनुष्य की चेतना परिधि को सीमित करना है, एक तरह से सजग तथा प्रतिभाशील कवि की प्रतिभा को सीमित दायरों में बाँधना है। मनोविश्लेषणशास्त्र ने मनुष्य के मन और व्यक्तित्व से सम्बन्धित जो सामग्री उपलब्ध की है, यदि काव्य के रूपशिल्प में उसको अभिहित किया जाये तो कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है। लेकिन जब कवि मनोविश्लेषणशास्त्र के सिद्धान्तों को अपने काव्य का आदर्श बनाकर काव्य प्रक्रिया के साथ उसका तादात्म्य कर लेता है तो उसकी काव्य-रचना संदिग्ध ही होगी। उपलब्धि के रूप में वह समाज को कुछ नहीं दे सकेगा।

अज्ञेय केवल वक्तव्य देने तक सीमित नहीं रहे अपितु उन्होंने तथा उनके अनुयायियों ने अनेक कविताओं में यौन वर्जनाओं एवं विगलित कुंठाओं का चित्रण किया है। 'इत्यलम्' की अनेक कविताओं से उक्त कथन स्पष्ट हो जाता है—

ठहर-ठहर आततायी! जरा सुन ले
मेरे क्रुद्ध वीर्य की पुकार आज सुन जा।
और यह दृढ़ पैर मेरा,
शुद्ध, स्थिर स्थाणु सा गड़ा हुआ
तेरी प्राणपीठिका पर लिंगसा खड़ा हुआ।

अज्ञेय का 'क्षेत्रविशेष' 'स्त्री-पुरुष का चिरंतन प्रेम-व्यापार रहा है।' अतः यौन भावनाओं का समावेश होना आवश्यक हो गया है। 'अज्ञेय' की यौन-सम्बन्धी 'लारेंश' से बहुत कुछ मेल खाती है। शायद 'अज्ञेय' का अवचेतन मन फ्रायड

के प्रति बहुत उदार रहता होगा। लेकिन अज्ञेय ने यौन भावना द्वारा सामाजिक संस्पर्श ही नहीं किया अपितु प्रकृति के सहज चित्रों में यौन भावना का सन्निवेश करके उन्हें यौन प्रतीक का रूप दे दिया है। इन यौन प्रतीकों में प्रकृतवाद का भी अपना सहयोग रहा है—

घिर गया नभ, उमड़ आये मेघ काले
भूमि के कंपित उरोजों पर झुका-सा
विशद, श्वासाहत, चिरातुर
छा गया इन्द्र का नील वक्ष
वज्र-सा यदि तड़ित-सा झुलसा हुआ सा
आह मेरा श्वास है उत्तप्त—
धमनियों में उमड़ आई है लहू की धार
काम है अभिशाप
तुम हो नारि

यहाँ कवि की यौन भावना प्रकृति के साथ उद्दीप्त हो जाती है। जिससे वह नारी का आह्वान करता है। अन्तश्चेतन के मुक्त प्रवाह में इन प्रतीकों का महत्व अधिक हो गया है। प्राचीन यौन प्रतीक परम्परा और आधुनिक यौन प्रतीक परम्परा में केवल अन्तर इतना है कि आज प्रतीकों की प्रक्रिया का समग्र ज्ञान होने से उनका प्रयोग बौद्धिक आधार पर किया जा रहा है। प्राचीन कवियों ने काव्य के उद्‌बोधन में संकेतित अर्थों के साथ-साथ, अभिधार्थ का भी प्रयोग किया है, लेकिन नये कवि अभिधार्थ के स्थान पर व्यंग्यार्थ अथवा संकेतित अर्थ का आश्रय लेते हैं।

अज्ञेय से प्रभावित होकर अन्य नये कवि भी दमित और कुंठित भावनाओं की अभिव्यक्ति करते रहे। विगलित कुंठाओं को व्यक्त करने के कारण ये प्रतीक लोक-हित के लिये समीचीन नहीं है। कुंवरनारायण के चक्रव्यूह में 'अतृप्त ज्वार' में आलिंगन, चुम्बन का सहज प्रयोग हुआ है। उनके जीवनदर्शन में समस्त सुखों का केन्द्र यौन प्रतीकों में निहित है। आमाशय, गर्भाशय, यौनाशय ही सुख और सौन्दर्य के प्रतीक हैं।

यही यौन प्रतीकों की परम्परा दूसरा मोड़ लेकर भोगवाद में परिणत हो गई। भोगवाद ही सुखवाद है। इसमें अतृप्त भावनाओं तथा यौन विकृतियों को तुष्टि होती है तथा मांसल, शारीरिक, ऐन्द्रिक सुख को प्राप्त किया जाता है। वस्तुतः इस बहाने कवि अपनी अतृप्त यौन-वासनाओं को मुखरित करने में सफल हो जाता है। शान्ता सिन्हा की एक कविता है जिसमें उन्होंने कहा है "स्तनों की परिधि फैल रही है, हसरतें अभी जवान हैं। दोस्तों और साथियों मेरे झण्डे के नीचे आओ। रक्त की सेय पर उत्सव करें, नाचें, गाएँ।"

ऐसे स्थलों पर कवि-मन अपनी दमित वासनाओं को प्रकट कर चेतन और अचेतन के संघर्ष को समाप्त कर देता है। कामप्रवृत्ति और अहं के मध्य उद्भूत द्वन्द्व भी समाप्त हो जाता है। साथ ही काव्य के माध्यम से सामाजिक नैतिकता के झीने आवरण को विदीर्ण कर कामप्रवृत्ति का दमन नहीं करना पड़ता।

अन्त में एक नये कवि, जो अभी कवियों की पंक्ति में खड़ा हुआ है, की कविता को उद्धृत किया जा रहा है। इस नये कवि का 'एक आत्मकथन' मन के अन्तश्चेतन में छिपी वासना की कहानी है जो अतृप्त होने के कारण बार-बार निकलना चाहती है—

> वह मुझे एक बहुत बड़े मेले में ले गई
> जहाँ सब खुश थे, सब को बड़ा मजा आ रहा था
> वहाँ मुझे खाली हाथ देख
> उसने अपनी दृष्टि में मुझे बाँध हल्के से चूम लिया
> वह मुझे सजे-सजाये कमरे में ले गई
> जहाँ कुर्सियाँ थीं, मेजें थीं, और उसको प्रिय
> कुत्तों की नस्लें और नीली-पीली बिल्लियाँ थीं
> उनके बीच परेशान देख
> उसने मुझे वहाँ रुकने के लिये अपनी दो टाँगें —
> उधार दे दीं।
> इसी को सच समझें
> तब से मैं कहीं गया नहीं
> वहीं पड़ा हूँ। [विपिन बिहारी अग्रवाल]

इस प्रकार यौन परिकल्पनाओं के माध्यम से नये कवियों ने अपनी वर्जित यौन कुण्ठाओं, दमितवासनाओं को काव्य में व्यवहृत किया है, जो हेय होने के साथ-साथ, समाज की नैतिकता को आघात पहुँचाने वाली है। यौन भावना एक सीमा तक ग्राह्य है, क्योंकि उसका अवरोध भी विद्रूपता में परिणत हो सकता है। वह नैसर्गिक प्रक्रिया है। चिरन्तन प्रवाह है। लेकिन उसकी अति द्वारा मानवमूल्यों को आघात पहुँचाना भी अनुचित है। घोर अश्लीलता किसी भी रूप में समाज को उपादेय नहीं हो सकती है। अतः नये कवियों को यौन प्रतीकों, तथा परिकल्पनाओं को व्यवहृत करने में सचेत होना आवश्यक है।

यह दोष केवल नये कवियों का नहीं है। किसी भी 'नयी कहानी' तथा उपन्यास को उठा लीजिये 'सेक्स' उसमें बुरी तरह छाया हुआ मिलेगा। 'सेक्स' के ... साथ ही मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व, और चारित्रिक विकृतियों का प्रस्तुतन किया

ाता है। यही युगबोध और युग सत्य है। युग की मांग भी यही है। परन्तु अवनति
 गर्त की ओर जाते हुए समाज को क्या सत् साहित्य द्वारा रोका नहीं जा सकता
? अवश्य ही रोका जा सकता है। साहित्य जहां एक ओर समाज का दर्पण होता
, दूसरी ओर समाज की भावनाएं उससे अनुप्राणित होती हैं। साहित्य का मूल
द्देश्य आदर्शमय समाज का निर्माण करना है। भटकते हुए समाज को सच्चा मार्ग
दिखाना है। ऐसी अवस्था में नये साहित्यकारों का दायित्व और भी बढ़ जाता है।
ीमती सिमोना बोवोयर के उपन्यास 'द मेन्डारिन्स' में वर्णित कुत्सिक वातावरण से
ुक्त होना है। यह 'सेक्स' स्थिति यूरोप मे ही नहीं भारत मे भी विद्यमान है। अतः
स भाव-बोध [किंचित आधुनिकता] के मायां जाल को झटकने में ही कविकर्म सफल
ो सकता है।

४

मनोवैज्ञानिक धाराएं और नया काव्य

अहं के विकास में बहुत बड़ी प्रेरणा प्रदान की फ्रायड, एड्लर तथा युंग ने। उन्होंने बताया कि मानव मन की कुण्ठाओं तथा ग्रन्थियों को काव्य में किस प्रकार व्यवहृत किया जा सकता है। मनोवैज्ञानिकों ने चेतना धरातल के इस अतिरिक्त अङ्ग या उपांग को खोज का विषय बनाया। मन के धरातलों को भी वर्गीकृत किया गया। चेतन मन को सर्वोपरि मानकर धारणा, भावना, विचार को ही उसका विषय माना किन्तु इसका महत्त्व अब घट गया है। चेतन मन से थोड़ा नीचे उपचेतन मन, और उससे नीचे अवचेतन मन का प्रवाह माना गया है। जिस प्रकार भारतीय योगशास्त्र में चेतना की मूलशक्ति को कुण्डलिनी माना गया है, उसी से साम्य रखता हुआ मनोविज्ञान का अनुभव, व्यक्तित्व के अन्ध गर्त में लीन, अव-चेतन मन ही मनुष्य की समस्त उपचेतन - चेतन क्रियाओं का मूल माना गया है।

'फ्री-एसोसिएशन' या चेतना का मुक्त प्रवाह

इसी से शृङ्खलित प्रक्रिया को 'चेतना का मुक्त प्रवाह' (फ्री-एसोसिएशन) कह सकते हैं। इन्हीं मन के विभिन्न स्तरों ने काव्यात्मक संवेदनाओं और काव्य-रचना-प्रक्रियाओं को अप्रत्याशित रूप से प्रभावित किया।

दूसरी ओर अन्तश्चेतन के मुक्त प्रवाह में संकेतों का या प्रतीकों का महत्व सबसे अधिक है। प्राचीन प्रतीक परम्परा और आधुनिक प्रतीक परम्परा में अन्तर यह है कि आज प्रतीकों की प्रक्रिया का समग्र ज्ञान होने से उनका प्रयोग बौद्धिक भूमि पर किया गया है। आधुनिक काव्य हृदय के तलस्पर्शी स्तरों में डूबने का प्रयास करता है और मनोविज्ञान-शास्त्र के सिद्धान्त और उसकी मान्यताएं इस दिशा में पूर्ण सहयोग देती हैं। प्राचीन कवियों ने काव्य के उद्बोधन में संकेतित अर्थों के साथ-साथ अभिधार्थ का भी प्रयोग किया है लेकिन नये काव्य में अभिधार्थ के स्थान पर व्यंग्यार्थ अथवा संकेतित अर्थ का ही प्रावल्य है।

साथ ही काव्य में संवेदना, भावना, विचार के मिश्रित स्मृत्यात्मक रूप को नहीं भुलाया जा सकता, क्योंकि उनकी घनीभूत समष्टि ही अनुभूति से अभिहित

होती है। जब ऐसी अनुभूतियां आत्मा का अङ्ग बन जाती हैं और प्रज्ञा या रचनात्मक पूर्व चेतन मन का बिम्बात्मक प्रतिमान धारण कर अभिव्यक्त होती हैं तभी वे काव्य का यथार्थ स्वरूप ग्रहण करती हैं। अनुभूतिमूलक बिम्बों के बारे में जर्मन कवि रिल्के का मत है कि जैसा प्रायः लोग सोचते हैं काव्य अनुभूति है, केवल भावनाएं नहीं। एक कविता का सृजन करने के हितार्थ नाना नगर, मानव, उपादान, पशु, विहगों की उड़ान, उषा काल में मुकुलित पुष्पों की मुद्राओं का अवलोकन करना चाहिये। उसे कल्पना लोक के अज्ञात प्रदेश पथों पर अप्रत्याशित देशों की यात्रा करनी होती है। सनातन काल से अपेक्षित बिछुड़ने की कल्पना करनी होती है। शैशव के धुन्ध भरे दिवसों की, उन माता-पिता की, जो उसे कुछ आनन्दानुभूति प्राप्त करना चाहते थे, पर उनकी बात न ग्रहण करके उसने उनका हृदय वेदनासिक्त कर दिया था, स्मृतियां आती हैं। लेकिन स्मृतियों का इतना होना पर्याप्त नहीं है। यदि वे बहुसंख्यक हैं तो विस्मरण शक्ति भी होनी चाहिए तथा प्रतीक्षार्थ धैर्य भी होना चाहिए, जब तक वे स्मृतियां लौट न आवें, क्योंकि स्मृतियों का विशिष्ट महत्व होता है जब वे रग-रग में रक्त बनकर दौड़ने लगती हैं। हमारी दृष्टि और मुद्राओं में रम जाती हैं, जब वे संज्ञाहीन होकर हममें इतनी तादात्म्य कर लेती हैं कि पृथक् करके उन्हें नहीं देखा जा सकता; केवल तभी यह सम्भव हो सकता है जब किसी अलभ्य क्षण में कविता का प्रथम वर्ण उन स्मृतियों में उभरता और विकसित हो।

इस आधार पर काव्य के तीन मूलतत्व हुए—

(१) स्वानुभूति
(२) प्रज्ञात्मक अन्तर्दृष्टि
(३) बिम्ब।

आधुनिक कविता में जिन मनोवैज्ञानिक तत्वों एवं प्रक्रियाओं का उपयोग हुआ हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) निर्बाध निक्षेप या चेतना का मुक्त प्रवाह (Free association) जिसका आधार है आत्मोद्बोधन (Avocation)।
(२) व्यंजना का उपयोग (सांकेतिकता)।
(३) प्रतीकवाद। ये प्रतीक अनेक कोटियों के हैं स्वप्न प्रतीक, नागरिक प्रतीक, यौन प्रतीक, आदि।

अन्तश्चेतन के प्रवाह को ग्रहणार्थ आधुनिक कवि वाक्य-विन्यास में अनेक परिवर्तन करता है। विचार-विन्यास के अक्षेप डाल कर और भावात्मक संगति के उपयोग के द्वारा वह अपने अन्तरंग का स्पष्ट चित्र हमें देना चाहता

है। फलतः आधुनिक काव्य में तर्क-निर्दिष्ट के द्वारा अभिव्यंजना का स्थान न होकर उद्बोधक प्रतीकों द्वारा भावाभिव्यंजना का प्रसार हुआ है।

(४) नया काव्य निर्वैयक्तिकता को वैयक्तिक ढंग से पकड़ता है और इस प्रकार उसमें जहाँ स्वच्छन्दतावादी काव्य की व्यक्तिपरता आ जाती है, वहाँ उसमें क्लासिकल काव्य की सार्वभौमिकता और तटस्थता भी रहती है। सम्भवतः इस दृष्टिकोण में बहिरंग कवि के अन्तरंग से प्रभावित होते हुए भी अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रख सकता है और उसका भावात्मक एवं वैज्ञानिक परीक्षण सम्भव है।

(५) मानव चरित्र के बारे में भी अभिनव दृष्टिकोण अपनाया गया है। मानव चरित्र मात्र स्वतन्त्र एवं स्थूल इकाई न होकर अचेतन प्रतिक्रियाओं का विशृङ्खल समूह मात्र रह गया है। इसीलिए नये कवि पात्र को महत्ता न देकर खण्डचित्र को ही महत्त्व देते हैं। खण्डचित्र में तारतम्य स्थापित करने के लिए पाठक को अपनी ओर से प्रयास करना पड़ता है। पाठक और कवि का चरित्र भी विशृङ्खलित होता है। दोनों की भावात्मक एकता जागृत होने पर ही वे सूत्रबद्ध हो सकेंगे, इसके लिए व्यक्तिगत उद्बोधनशील प्रतीकों का सहयोग महतीभूत होगा।

प्राचीनतम काल से ही काव्य मे लक्षणा, व्यञ्जना और प्रतीकों का उपयोग बराबर होता रहा है। अन्तर केवल इतना है कि आज हम मनः प्रक्रिया तत्व को समझ गये हैं। ये प्रतीक अब अबूझे और अयाचित नहीं है। आधुनिक कवि मनोविज्ञान की मान्यताओं या सूत्रों के सहारे अन्तरग के अतल में डुबकी लगाता है और वहां ऐसे रहस्यमय, चित्र-विचित्र भावयोगों की खोज करता है जो केवल अर्द्ध स्फुटित स्वप्नों और अर्द्ध मुकुलित प्रतीकों और ध्वनियों में ही आभासित किये जा सकते हैं।

चेतन मन के नीचे अस्पष्ट भावजगत के इस उपयोग ने काव्य विधि को अन्यतम रूप से प्रभावित किया है। लेकिन अभी नयी कविता प्रयोगावस्था में है। अवचेतन को रूप देने मे कवि को अभीप्सित सफलता कदाचित नहीं प्राप्त हुई है। असफल होने की अवस्था मे उसकी रचना कूट काव्य बन गई है। डे-लेविस का मत है कि 'चेतना के मुक्त प्रवाह की प्रक्रिया' पाठकों को कठिनाई में डाल देती है क्योंकि विचार अथवा कल्पना चित्र के सम्बन्ध में उसके सन्दर्भ कवि के संदर्भ से भिन्न है और यह सम्भव है कि वह कदाचित् ऐसा चकित और उद्वेलित हो जाय मानों वह नींद में किसी से वार्तालाप कर रहा हो।"

सैद्धान्तिक रूप से तो यह कठिनाई अवश्य है लेकिन व्यावहारिक रूप से नया कवि अपने व्यक्तिगत प्रतीकों द्वारा कुछ-कुछ भावबोध कराने में समर्थ हो सका है।

नया कवि मनोवैज्ञानिक विभाजन के कारण अखण्डित सम्पूर्ण को न देकर, केवल जीवन खण्ड की ओर संकेत करता है। पाठक को उसमें एक सूत्रता स्थापित करनी होती है। लेकिन यह एकसूत्रता चरित्रगत या विचारगत एक-सूत्रता नहीं होती। इसको भावसूत्रता कह सकते हैं। सेसिल डेलेविस इसे 'इमोशनल सीक्वेंस' के नाम से अभिहित करता है। उसका कथन है कि 'तर्क संगति के नितान्त अभाव का आदी न होने के कारण पाठक पहले ही चिढ़ सा जाता है'" संगति सोचने के प्रयत्न में उसे अपनी बुद्धि पर जोर डाल कर उसे अति-सवेदित कर लेना ठीक नहीं होगा। इस व्यवस्था में भाव-सवेदन के माध्यम से वह रसनिष्ठ हो सकेगा। कल्पना चित्रों के अधिक समय तक स्थित रहने पर उसे प्रतीत होगा कि उसने सूत्र ग्रहण कर लिया है, जैसे एक स्फुलिंग-मात्र से सारी पार्श्वभूमि जगमगा उठी हो।[1]

पूर्ववर्ती काव्य में तर्क सम्बन्ध और विषय निर्वाह को सर्वोपरि समझा गया था। उस समय चेतन मन का कवि उपयोग करता था। नया कवि चेतन मन की उपेक्षा कर उपचेतन या अवचेतन के विरोधाभासपूर्ण असंगत और अर्द्धस्फुट विचार प्रवाह को ही अपना काव्यस्रोत बनाता है, वहाँ तर्क शास्त्र सम्मत विषय-निर्वाह की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

आज की परिस्थितियाँ इतनी विकट हैं कि कोई भी कवि किसी व्यक्ति के अन्तर्बाह्य को सम्पूर्ण रूप से नहीं जान सकता है। कदाचित् अपने खण्डित व्यक्तित्व के बारे में भी इतनी स्पष्ट स्वीकारोक्ति नहीं कर सकता है।

फ्रायड और उसका सम्प्रदाय

मनोविश्लेषण के क्षेत्र में फ्रायड ने काव्य को सबसे अधिक प्रभावित किया

The reader unaccustomed to the total absence of logical continuity is as first inclined to irritation....let him not over heat his intellectual bearings in an attempt to 'thinkout' the connections, The only entry into the position is an emotional one. If he will....situation- See Op, CIT, P. 20-1.

है। उसकी मान्यताएं काव्य तत्त्व तथा काव्य प्रकृति पर सबसे अधिक प्रभाव डालती हैं। फ्रायड ने तीन स्थितियों स्वप्न, रुग्ण मनःस्थिति और कला में बहुत साम्य माना है। इन तीनों में अचेतन प्रक्रियाएं गतिशील रहती हैं साथ ही तीनों तत्त्वों में कम या अधिक कल्पनातिरेक का तत्त्व निहित होता है। लेकिन कवि का स्वप्न जाग्रत स्वप्न है। वह अपने विषय से अभिभूत नहीं होता बल्कि उस पर नियन्त्रण रखता है। स्वप्न-प्राविष्ट और रुग्ण की मनःस्थिति में स्वप्न द्रष्टा और रोगी कल्पना विभोर होता है, मन के अश्व की बल्गा उसके हाथ में नहीं होती।

(१) फ्रायड का विचार है कि कलासृजन के मूल में कलाकार को दमित एवं कुण्ठित काम-प्रवृत्तियों की सत्ता होती है। ये वृत्तियाँ विविध प्रकार की बाह्यवर्जनाओं के कारण अवचेतन मन में दमित अवस्था में होती हैं। मार्ग प्रशस्त होने पर निकास का मार्ग खोज लेती है। अतः सम्पूर्ण कला अव-चेतन अथवा अचेतन मे दमित तथा कुण्ठित कामुक वृत्तियों की अभिव्यक्ति है। यदि सामाजिक तथा बाह्य प्रति-ोधो से इन वृत्तियों का दमन है तो अनेक मानसिक व्याधियां तथा विकृतियां उद्भूत हो जाती हैं।

(२) फ्रायड के अनुसार स्वप्न इच्छापूर्ति भर है, जिसका दमन चेतनावस्था मे किया जाता है। उसके अनुसार दमित तथा कुण्ठित आकांक्षाएं अवचेतन में विद्यमान होती हैं जो सुप्तावस्था मे एक एक कर बाहर निक-लने लगती हैं।

(३) मनोविश्लेषक अवचेतन अथवा अचेतन मन मे दबी इन दमित एवं कुण्ठित आकांक्षाओं का पता लगाने के लिये 'फ्री-एसोसियशन' नामक पद्धति का प्रयोग करता है। इस पद्धति में मनुष्य को पूर्ण विश्राम की अवस्था में बिठा कर उससे उन सभी विचारों को, उसी क्रम से, निर्बाध रूप से व्यक्त करने को कहा जाता है, जिस क्रम से वे उसके मस्तिष्क में उठे हों। ये विचार सु-सम्बद्ध नहीं होते, परन्तु मनोविश्लेषक इन असम्बद्ध विचारों के द्वारा ही मनुष्य के मन की दमित ग्रन्थियों को खोलने का प्रयास करते हैं।

(४) मानव के हृदय मे ही नरक स्थित है जिससे निरन्तर ऐसी प्रेरणाएं स्फुरित होती हैं जो उसकी पाशविकता को चरितार्थ करना चाहती है।

(५) फ्रायड प्रेम तत्त्व को प्रधानता देता है।

(६) फ्रायड का विश्वास है कि मानव के दुख का सबसे बड़ा स्रोत उसका अहंकार है।

फ्रायड का मनोविश्लेषण कुछ मानों में सत्य है किन्तु उसकी यौन-परि-

कल्पनाओं ने काव्य को जिस रूप में आक्रान्त किया है, उससे विद्रोह पैदा होता है। यौनाचार, कामभावना, फ्रायड की देन है। नये काव्य में उन्हे यथेष्ट मात्रा मे ग्रहण किया गया है। दूसरी ओर उसने मानव के प्रति अवज्ञा प्रकट नही की है। जहाँ एक ओर विवर्जित यौन-कुण्ठाओ के यथार्थवादी धरातल पर मानव की शल्य प्रक्रिया करता है, वहा दूसरी ओर उसे परम प्रेममय रूप के दर्शन भी करा देता है।

हिन्दी की नई कविता पर फ्रायड के यौनवाद का ही अधिक प्रभाव पड़ा है। अज्ञेय ने तार सप्तक के वक्तव्य मे इसे स्पष्ट कर दिया है: -

आधुनिक युग का साधारण मनुष्य यौन वर्जनाओं का पुञ्ज है। उसके जीवन का एक पक्ष है, उसकी सामाजिक रूढ़ि की लम्बी परम्परा, जो परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ विकसित नहीं हुई, और दूसरा पक्ष है स्थिति परिवर्तन की असाधारण तीव्र गति, जिसके साथ रूढ़ि का विकास असम्भव है। इस विपर्यास का परिणाम है कि आज के मानव का मन यौन-परिकल्पनाओ से लदा हुआ है और वे कल्पनाएं सब दमित हैं, कुण्ठित हैं। उसकी सौन्दर्य चेतना भी इससे आक्रान्त है। उसके उपमान सब प्रतीकार्थ रखते हैं।...... और इस आन्तरिक संघर्ष के ऊपर जैसे काठी कसकर एक बाह्य संघर्ष भी बैठा है, जो व्यक्ति या व्यक्ति का नहीं, व्यक्ति समूह और व्यक्ति समूह का, वर्ग और श्रेणियों का संघर्ष है। व्यक्तिगत चेतना के ऊपर एक वर्गगत चेतना भी खड़ी हुई है।

साधारण मनुष्य को यौन-वर्जनाओ का पुञ्ज कहना आधुनिक मनुष्य की चेतना परिधि को सीमित करना है, एक तरह से सजग तथा प्रतिभाशील कवि की प्रतिभा को सीमित दायरो मे बाँधना है। मनोविश्लेषणशास्त्र ने मनुष्य के मन और व्यक्तित्व से सम्बन्धित जो सामग्री उपलब्ध की है, यदि काव्य के रूपशिल्प में उसको अभिहित किया जाय तो कल्याणकारी सिद्ध हो सकती है, लेकिन जब कवि मनोविश्लेषण शास्त्र के सिद्धान्तों को अपने काव्य का आदर्श बनाकर काव्य प्रक्रिया के साथ उसका तादात्म्य कर लेता है तो उसकी काव्य ना संदिग्ध ही होगी। उपलब्धि के रूप मे वह समाज को कुछ नहीं दे गा।

'अज्ञेय' तथा उनके अनुयायियो ने अनेक कविताओ मे यौन वर्जनाओ, एवं लित कुण्ठाओं का चित्रण किया है—

ठहर-ठहर आततायी। जरा सुनले
मेरे क्रुद्ध वीर्य की पुकार आज सुनजा।

'अज्ञेय' ने यौन भावना द्वारा सामाजिक संघर्ष ही नहीं किया अपितु

प्रकृति के सहज चित्रों में यौन भावना का सन्निवेश करके उन्हें यौन प्रतीक का रूप दे दिया है—

> घिर गया नभ, उमड़ आये मेघ काले
> भूमि के कंपित उरोजों पर झुका-सा
> विशद, श्वासाहत, चिरातुर
> छा गया इन्द्र का नील वक्ष
> वज्र-सा यदि तड़ित-सा झुलसा हुआ सा
> आह मेरा श्वास है उत्तप्त—
> धमनियों में उमड़ आई है लहू की धार
> काम है अभिशाप
> तुम कहाँ हो नारि। (अज्ञेय)

आगे कवि देखता है 'धारयित्री,' 'स्नेह से अलिप्त और बीज के अविनश्य से उत्फुल्ल' तथा 'बद्ध' होकर 'सत्य सी निर्लज्ज,' 'नंगी औ समर्पित,' वासना के पंक सी फैली हुई थी।

'अज्ञेय' से प्रभावित नया कवि दमित एवं कुण्ठित भावनाओं की अभिव्यक्ति करने में नहीं चूक रहा है—

> सहज चुम्बन, सहज आलिंगन
> सहज-सी भूल;
> थके मुख पर इस सफर की धूल। (कुँवर नारायण)
>
> × × ×
>
> आमाशय
> यौनाशय
> गर्भाशय,"' ''''''''' जिसकी जिन्दगी का यही आशय,
> यही इतना भोग्य,
> कितना सुखी है वह,
> भाग्य उसका ईर्ष्या के योग्य।
>
> हाय, पर मेरे कलपते प्राण,
> तुमको मिला कैसी चेतना का विषय जीवन मान ?
> जिसकी इन्द्रियों से परे
> जागृत है अनेकों भूख। (कुँवर नारायण)

नयी कविता में स्वप्न प्रतीक भी ग्रहण किये गये हैं तथा 'फ्री एसोसिएशन'
ो काव्य-शिल्प का अङ्ग बन गया है—

ले लो वह बेंच रहा, वेदना निग्रह रस
जो 'सरे बलम' की संग्रहणी को करता छू-मन्तर।
ग्राह वेदना मिली विदाई
जब तुम चले 'ग्रादम होवा बन,' 'इडन' कुञ्ज से
शल्य चिकित्सा का युग है यह,
क्यों न ग्रपनी लैं कामल ग्रन्थि निकलवा लो ?
ये दो लवणीय एचद्द ग्रो के कम्पोन्डियस ग्रौर पोर्टबुल
उदधि भी सूखे रहा करेंगे।

(नरेश)

'ग्रज्ञेय' की मान्यता यह भी रही है कि ग्राज के मानव की सवेदनाएँ सह-
ा प्रवृत्तिया ग्रौर सामाजिक वर्जनाग्रों के द्वन्द्व तथा बाह्य सामाजिक-राजनैतिक
यें के कारण जटिल हो गई है, ग्रतः इन्हीं उलझी सवेदनाग्रो की सृष्टि को पाठकों
ग्रक्षुण्णरूप मे पहुंचाना ग्रौर इस तरह व्यक्ति सत्य को व्यापक सत्य बनाना ही
के कवि का प्रमुख कर्तव्य है। यह सत्य है कि किन्हीं ग्रशों तक ग्राज का
मवर्गीय परिवार मानसिक ग्रन्थियों में उलझा हुग्रा है ग्रथवा कुण्ठाग्रस्त है।
न शेष बातें ग्रवैज्ञानिक ग्रौर ग्रसत्य ही नही, प्रयोगवादी काव्य को कदाचित्
की ग्रोर ले जाने वाली हैं।

एक नए कवि का मत है कि "विवेचना प्रधान दृष्टिकोण होने के नाते
षणात्मक प्रवृत्तियाँ ग्राज की कविता का मुख्य ग्रग हैं। इन प्रवृत्तियो मे
षण है उस संस्कार का, उस परम्परा का जो केवल उत्तराधिकार के बल पर
भी जीवित रहना चाहती है। संस्कार के साथ-साथ ग्राज की मनःस्थिति
परिवर्तित जीवन-सदर्भ की सार्थकता को स्वीकार करता हुग्रा ग्रपनी कला-
व्यञ्जना को ग्रागे बढ़ाता है। ग्राज की काव्य प्रवृत्ति कवि की मनःस्थिति के
न से बाह्य तथा ग्रान्तरिक जीवन ग्रनुभूतियो मे विवेचनात्मक शैली का
ण करती है।"

लेकिन यह कथन घूम फिर कर उसी बिन्दु पर ग्रा जाता है। उलझी हुई
...ों से हट कर विवेचना प्रधान दृष्टिकोण ग्रपनाने से स्थिति में कोई ग्रन्तर
है।

———

५

नयी कविता में क्षणवाद

नई कविता में क्षणवाद पाश्चात्य काव्य की देन है। जिसने मनोविश्लेषण के साथ तादात्म्य करके विभिन्न रूप धारण किये हैं। क्षणवाद प्रत्येक क्षण में कौंधने वाले भावों का भोग करता है। तत्पश्चात् बिम्बों के माध्यम से उसे व्यक्त कर देता है। इस तरह क्षणवाद में नया कवि क्षण की समस्त अनुभूतियों, संवेदनाओं, विचारों, भावों को व्यक्त करता है, जिनमें संचारियों की प्रमुखता होती है।

क्षण भी कई प्रकार के होते हैं। प्रमुख रूप से स्थूल और सूक्ष्म, इन दोनों रूपों में इन्हें देखा जा सकता है। सूक्ष्म क्षण में कवि सत्य के साक्षात्कार कराने वाले क्षण की अनुभूतियों को व्यक्त करता है। यह मुक्ति का क्षण हो सकता है। वास्तविक आत्मोपलब्धि का भी हो सकता है। कालखण्ड के लिये न होकर अखण्डकाल के लिये हो सकता है। सत्य भी दो मुख्य रूपों में हो सकता है:—व्यष्टि सत्य, समष्टि सत्य। सूक्ष्म क्षण में समष्टि सत्य की अभिव्यंजना होती है, जब कि स्थूल क्षण में असत्य, भौतिक, आसक्ति, युक्त कालखण्ड की अभिव्यक्ति होती है। अज्ञेय, स्थूल क्षण के अनुवर्ती है। तारसप्तक में उन्होंने स्थूल क्षणिक संवेदना को ही अनुभूत-सत्य माना है। 'इन्द्र धनु रौंदे हुए' में अज्ञेय का दृष्टिकोण सत्य की उपलब्धि कराने वाले क्षण की ओर उन्मुख हो गया है। दृष्टांत के लिये इलियट और अज्ञेय की दो कविताएं उद्धृत की जा रही हैं:—

> काल वर्तमान का और भविष्यत् का
> चेतना को स्वल्प मात्र मुक्त नहीं करते।
> चेतन होना काल से मुक्त होना है
> किन्तु काल में ही पाटल-वन में का क्षण
> उस लता कुञ्ज में का क्षण, जिस पर वर्षा झड़ी होती है
> गोधूली वेला के दुर्दिन गिरिजा घर में का क्षण
> याद किया जाता है, भूत और भविष्यत् में लिपटा
> काल के माध्यम से काल जीता है। (फोर क्वार्टेट्स, पृ० ९-१०)

सत्य का क्षण, प्रेरणा का क्षण होता है। उसे गहन, अनुभूति का क्षण भी कहा जाता है। इस क्षण की विशेषता यह है कि, कालहीन होता है।

आज के विविक्त अद्वितीय इस क्षण को
पूरा हम जीलें, पीलें, आत्मसात कर लें—
उसकी विविक्त अद्वितीयता
आपको, किमपि को, क-ख-ग को
अपनी-सी पहचनवा सकें-
रसमय करके दिखा सकें—
शाश्वत हमारे लिये वही है।
अजर-अमर है
वेदितव्य—
अक्षर।
एक क्षण: क्षण मे प्रवहमान
व्याप्त संपूर्णता। (अज्ञेय, इन्द्रधनु रौंदे हुये ये)

लेकिन एक सत्य ऐसा भी होता है जो 'क्षण का सत्य' होता है जो व्यक्ति-सत्य है। 'क्षण' मे पकड़ भी हो, लेकिन क्षणिक क्षण हो तो उससे क्या लाभ? क्योंकि इसमे संवेदनाएँ अनुभूतियाँ, भावनाएँ, नितान्त तात्कालिक, या अल्पकालिक होती है। एक नये कवि को इसी 'क्षण' मे जिज्ञासा हुई कि लोग आत्महत्या कैसे करते है। बस इस क्षणिक अनुभूति को पद्यबद्ध करने मे वह लीन हो गया:—

मानता हूँ खुदकुशी को कायरों का काम
आत्मघाती भावना से घृणा करता हूं
मगर इस क्षण न जाने क्यों दिल चाहता है
झांक लूं उस अन्ध तमसावृत अजाने लोक में
जिसमें हजारों प्रेत बसते हैं,
बहुत सम्भव है कि वे प्रेत हो अधिक उदार
इन भूलोकवासी सभ्य संस्कृत प्राणियों से
बहुत सम्भव है कि उनके ठहाकों मे—
कहीं कुछ सद्भाव भी मिल जाय। (जगदीश गुप्त)

क्षण विकल भी है जो उचित तम को खोजता फिरता है। लेकिन साथ ही यदि उस क्षण के महत्व से सजग है:—

यह विकल क्षण, जन्म को आतुर,
उचित तम खोजता

६

प्रयोगवाद से नई कविता तक

सम्प्रदाय का सूत्रपात

प्रयोगवाद का आविर्भाव १६४३ में 'तार सप्तक' के प्रकाशन से हुआ। इससे पूर्व 'प्रतीक' में तथा अन्य प्रकाशित 'अज्ञेय' की रचनाओं में विषयों और अभिव्यक्ति का एक भिन्न रूप मिलता है। 'दूसरा सप्तक' के प्रकाशन के साथ ही प्रयोगवाद नाम व्यापकता से व्यवहृत होने लगा। प्रयोगवाद ने, अपनी रूप-रेखा पहिले ही निर्धारित कर दी थी। 'तार सप्तक' की भूमिका के रूप में 'अज्ञेय' ने इस कविता की तकनीकी शैली के बारे मे कहा है—'प्रयोग सभी कालो में कवियों ने किये हैं। ---पि किसी एक काल मे किसी विशेष दिशा मे प्रयोग करने की प्रवृत्ति स्वाभाविक है, किन्तु कवि क्रमशः अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रो मे प्रयोग हुए हैं उनसे आगे बढ़ कर अब उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिये जिन्हें अभी छुआ नहीं गया है, या अभेद्य मान लिया गया है।'

नामकरण की समस्या

'तार सप्तक' की रचनाओं को 'प्रयोगवाद' के नाम से अभिहित किया गया, क्योंकि सम्पादक 'अज्ञेय' द्वारा बार-बार प्रयोग शब्द को प्रयुक्त किया गया था। इस सम्प्रदाय के कवियों को नवीन प्रयोग करने की लालसा बहुत दिनों से थी। अज्ञेय ने तार सप्तक में लिखा है—'कवियो के चुनाव में दूसरा मूल सिद्धान्त यह है कि संग्रहित कवि सभी ऐसे होंगे, जो कविता को प्रयोग का विषय मानते हैं—जो यह दावा नहीं करते कि काव्य का सत्य उन्होंने पा लिया है, केवल अन्वेषी ही अपने को मानते हैं।

प्रयोग का मूल भी पाश्चात्य काव्य से आया है। इलियट ने 'प्रयोग' पर लिखते हुए कहा है— 'प्रयोग' शब्द को उन कवियों की कृति के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है जो प्रौढ़ावस्था मे परिणत होते और विकास प्राप्त करते हैं। मनुष्य ज्यों-ज्यो प्रौढ़ होता जाता है वह नई विषय वस्तु की ओर मुड़ता या पुरानी विषय-वस्तु को ही नये शिल्प माध्यम से उपस्थित करता है, क्योंकि हमारे आदिम 'स्व'

और युगीन 'स्व' दोनों विश्व में रहने लगते हैं अथवा उसी विश्व में भिन्न व्यक्ति होते हैं। ये परिवर्तन लयात्मक या बिम्बगत या रूपगत किसी भी तरह के परिवर्तन के मार्ग से उपस्थित हो सकते हैं। सच्चा प्रयोक्ता अस्थिर कुतूहल अथवा मध्य-स्थापन की इच्छा या आश्चर्य में डालने की प्रवृत्ति मात्र से चालित नहीं होता, बल्कि वह एक कवि के रूप में प्रत्येक नई कविता में अपनी पूर्व कविताओं की तरह ही उन संवेदनाओं के लिए, जिसके विकास पर उसका कोई नियन्त्रण नहीं है, उचित माध्यम की तलाश की अनिवार्यता से बाध्य होता है।"

इलियट के लयात्मक बिम्बगत या रूपगत परिवर्तन, नई वस्तु की ओर मुड़ना, या पुरानी विषय वस्तु को नये शिल्प माध्यम से प्रस्तुत करने को नयी कविता में ज्यों की त्यों अपनाया गया है। आंग्ल कवि प्रयोग को अपना अभीष्ट मानता है, वह उसको कवि कर्म मानता है, क्योंकि आज की नित्य परिवर्तनशील यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिये काव्य के रूप शिल्प में भी सतत परिवर्तन या प्रयोग करने की आवश्यकता है। लेकिन आत्माभिव्यक्ति हो पुनरावृत्ति नहीं होती है। आत्म सचेतना, कवि को अग्रसर करती रहती है :—

मैं राह के मध्य पहुँच गया हूं
लगता है राह के बीस वर्ष व्यर्थ ही गुजर गये।
इसी बीच शब्दों के प्रयोग का अभ्यास करता रहा हूं।
मेरा प्रत्येक प्रयास अभिनवता लिये रहता है
जिसकी परिणति भिन्न प्रकार की होती है।
इसका कारण यह है कि हम
शब्दों में अधिकाधिक अर्थ भरने का प्रयास करते हैं।
हम यह अवलोकन करना गवारा नहीं करते
कि वह बात पहले भी कही जा चुकी है,
या अभिव्यंजना पद्धति जो हम अपना रहे हैं
पहले भी व्यवहृत होती रही है!
इसी कारण मेरा प्रत्येक प्रयास, नवीन प्रारम्भ-अव्यक्त
की अभिव्यक्ति हितार्थ नव अभियान हो रहा है
मेरे अभियान के साधन भी अपरिमार्जित रहे
जिससे उनकी परिणति सदैव ही
असंक्षिप्त भावों और अनुशासित संवेदनाओं के रूप में होती रही हैं
मैंने देखा कि
जिस लक्ष्य की ओर मैं प्रवृत्त हूँ

उस पर अन्य भी कई बार पहुँच चुके हैं
किन्तु मुझे इससे प्रतिस्पर्धा नहीं।
हमारा अभियान उस वस्तु की पुनः प्राप्ति के लिये है
जो अनेकानेक बार खोई,
पाई,
पाकर, खोई जा चुकी है। (इलियट)

यूरोप में 'प्रयोग' का अर्थ व्यापक और संकुचित दोनों अर्थों में लिया गया है। व्यापक अर्थ में विचार, अनुभूति, भाव की अभिनवता, सघनता, गहनता तथा रूप-शिल्प की परम्परागत पद्धति को 'प्रयोग' कहा जाता है।

संकुचित अर्थ में 'प्रयोग' का अर्थ केवल रूप-शिल्प में निरुद्देश्य और अनावश्यक अभिनवता प्रयुक्त करने वाले प्रयासों के लिये प्रयुक्त होता है। इसका उदाहरण देते हुए अंग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार फिलिप टॉयनबी ने लिखा है—"यूरोप के बहुत से स्थानों पर ऐसी पुस्तकें, जिनके वाक्य सीधे नहीं बल्कि ऊपर से नीचे की ओर छपे हों या जिनकी विभिन्न रंगों में छपाई हुई हो, साहसपूर्ण तथा मनोरंजक प्रयोग के रूप में स्वीकृत की जाती हैं, चाहे उनका वस्तु तत्व बहु-युक्त और अनुकृत ही क्यों न हो।"[१]

टायनबी द्वारा संकेतिक 'प्रयोग' यथार्थ में 'प्रयोग' नहीं है, क्योंकि ये प्रयोग' निरुद्देश्य होते हैं। इन्हें 'विकृत प्रयोग' या 'प्रयोग के प्रयोग' ही कहा जा सकता है।

डॉ० एच० बी० रय ने भी प्रयोगों पर बल दिया है तथा बीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक में होने वाले परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए काव्य के मूल में निहित आश्चर्य तत्त्व को अनिवार्य बताया है। उसके अनुसार—"कला को सदैव अभिनव रूप प्रदान करते रहना चाहिए। उसका सृजनात्मक प्रभाव आश्चर्य तत्त्व पर निर्भर होता है। कलात्मक अभिव्यंजना की परम्परा की सद्य.ता और

---

१. "A book which is printed upside down or in a particular print can still be aclaimed in some parts of Europe as a bold and interesting experiment, even if its matter is the most backneyed imitation."
(Philip Toynbee, London Magazine, Experiment and the future of the noval," May 1956)

और युगीन 'स्व' दोनों विश्व में रहने लगते हैं अथवा उसी विश्व में भिन्न अर्थ होते हैं। ये परिवर्तन लयात्मक या बिम्बगत या रूपगत किसी भी तरह के परिवर्तन के मार्ग से उपस्थित हो सकते हैं। सच्चा प्रयोक्ता अस्थिर कुतूहल अथवा नव-स्थापन की इच्छा या आश्चर्य में डालने की प्रवृत्ति मात्र से चालित नहीं होता, बल्कि वह एक कवि के रूप में प्रत्येक नई कविता में अपनी पूर्व कविताओं की तरह ही उन संवेदनाओं के लिए, जिसके विकास पर उसका कोई नियन्त्रण नहीं है, उचित माध्यम की तलाश की अनिवार्यता से बाध्य होता है।"

इलियट के लयात्मक बिम्बगत या रूपगत परिवर्तन, नई वस्तु की ओर मुड़ना, या पुरानी विषय वस्तु को नये शिल्प माध्यम से प्रस्तुत करने को नयी कविता मे ज्यो की त्यो अपनाया गया है। आंग्ल कवि प्रयोग को अपना अभीष्ट मानता है, वह उसको कवि कर्म मानता है, क्योंकि आज की नित्य परिवर्तनशील यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिये काव्य के रूप शिल्प मे भी सतत परिवर्तन या प्रयोग करने की आवश्यकता है। लेकिन आत्माभिव्यक्ति हो पुनरावृति नहीं होती है। आत्म सचेतना, कवि को अग्रसर करती रहती है :—

> मैं राह के मध्य पहुँच गया हूं
> लगता है राह के बीस वर्ष व्यर्थ ही गुजर गये।
> इसी बीच शब्दों के प्रयोग का अभ्यास करता रहा हूं।
> मेरा प्रत्येक प्रयास अभिनवता लिये रहता है
> जिसकी परिणति भिन्न प्रकार की होती है।
> इसका कारण यह है कि हम
> शब्दों में अधिकाधिक अर्थ भरने का प्रयास करते हैं।
> हम यह अवलोकन करना गवारा नहीं करते
> कि वह बात पहले भी कही जा चुकी है,
> या अभिव्यंजना पद्धति जो हम अपना रहे हैं
> पहले भी व्यवहृत होती रही है।
> इसी कारण मेरा प्रत्येक प्रयास, नवीन प्रारम्भ-अन्वेषण
> की अनिश्चित दिशा में नव अभियान हो रहा है
> मेरे अभियान के साधन भी अपरिमार्जित रहे
> जिससे उनकी परिणति सदैव ही
> अपरिष्कृत शब्दों और अनुशासित संवेदनाओं के रूप में होती रही है
> ऐसे देखा कि
> जिस छन्द की ओर मैं बढ़ता हूँ

उस पर अन्य भी कई बार पहुँच चुके हैं
किन्तु मुझे इससे प्रतिस्पर्धा नहीं।
हमारा अभिमान उस वस्तु की पुनः प्राप्ति के लिये है
जो अनेकानेक बार खोई,
पाई,
पाकर, खोई जा चुकी है। (इलियट)

यूरोप में 'प्रयोग' का अर्थ व्यापक और संकुचित दोनों अर्थों में लिया गया है। व्यापक अर्थ में विचार, अनुभूति, भाव की अभिनवता, सघनता, गहनता तथा रूप-शिल्प की परम्परागत पद्धति को 'प्रयोग' कहा जाता है।

संकुचित अर्थ में 'प्रयोग' का अर्थ केवल रूप-शिल्प में निरुद्देश्य और अनावश्यक अभिनवता प्रयुक्त करने वाले प्रयासों के लिये प्रयुक्त होता है। इसका उदाहरण देते हुए अंग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार फिलिप टॉयनबी ने लिखा है—"यूरोप के बहुत से स्थानों पर ऐसी पुस्तकें, जिनके वाक्य सीधे नहीं बल्कि से नीचे की ओर छपे हों या जिनकी विभिन्न रंगों में छपाई हुई हो, साहसपूर्ण मनोरंजक प्रयोग के रूप में स्वीकृत की जाती हैं, चाहे उनका वस्तु तत्व बहु- और अनुकृत ही क्यों न हो।"[1]

टायनबी द्वारा संकेतिक 'प्रयोग' यथार्थ में 'प्रयोग' नहीं है, क्योंकि ये ा' निरुद्देश्य होते हैं। इन्हें 'विकृत प्रयोग' या 'प्रयोग के प्रयोग' ही कहा जा ा है।

डॉ॰ एच॰ वी॰ रुय ने भी प्रयोगों पर बल दिया है तथा बीसवीं शताब्दी द्वितीय दशक में होने वाले परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए काव्य के मूल में ा आश्चर्य तत्त्व को अनिवार्य बताया है। उसके अनुसार—"कला को अभिनव रूप प्रदान करते रहना चाहिए। उसका सृजनात्मक प्रभाव आश्चर्य पर निर्भर होता है। कलात्मक अभिव्यंजना की परम्परा की सद्यता और

"A book which is printed upside down or in a particular print can still be aclaimed in some parts of Europe as a bold and interesting experiment, even if its matter is the most backneyed imitation."

(Philip Toynbee, London Magazine, Experiment and the future of the noval," May 1956)

अभिनवता एक बार समाप्त हो जाती है तो पाठक या सहृदय उससे विमुख होकर दैनिक कार्यों में लग जाता है। कला और साहित्य में अभिनव दृष्टि अन्वेषित करता है लेकिन ऐसी प्राचीन अभिव्यंजनाओं में उसे केवल स्थूल रूप के ही दर्शन होते हैं। इसलिए किसी महान पुस्तक में अभिनवता द्वारा आश्चर्य से चकित कर देने की शक्ति होनी चाहिए ताकि पाठक के हृदय में कौतूहल की वृद्धि होती जाय और उसे यह विश्वास हो जाय कि अनुभूतियां व्यापक और गम्भीर छवियों के निर्माण तथा कारयित्री प्रतिभा की क्रीड़ा की सामग्री मात्र है।"[१]

'प्रयोग' में अभिव्यंजना पद्धति को प्रमुख स्थान प्राप्त होता है। लेकिन *अभिव्यंजना पद्धति सम्बन्धी प्रयोग तभी सफल 'प्रयोग' माने जायेंगे जबकि कथ्य* या अनुभूति सत्य में नई पद्धति अपनाई गई हो। इसमें सस्ती लोकप्रियता, यश, धन, कमाने की सस्ती लोक रुचि को ग्रहण करना तथा पूर्व परम्परा का अनादर करके *नाम कमाना अवांछनीय माना जायेगा, भले ही वह अभिव्यंजना पद्धति प्रयोगशील* हो अथवा रूढ़िवद्ध हो।

फिलिप टॉयनबी ने अपने 'प्रयोग और उपन्यास का भविष्य' शीर्षक निबन्ध में लिखा है —"*सत्य यह है कि उपन्यास के क्षेत्र में अब तक किए गए पद्धति–सम्बन्धी* प्रयोगों का विश्लेषण करना व्यर्थ होगा यदि हम उनके माध्यम से उनके मूल में निहित उन तत्त्वों पर विचार नहीं करते, जो उन पद्धति सम्बन्धी प्रयोगों से कई गुना अधिक महत्त्व के होते हैं। यह तो सर्व विदित है कि अभिव्यंजना पद्धति और उसके पीछे काम करने वाले तत्त्व अविच्छेद्य हैं, किन्तु यदि हम आलोचक हैं तो इस अविच्छेद्यता की जानकारी के बावजूद हमें दोनों में अन्तर अवश्य करना चाहिए।

---

१. "Art must always be renewed. It's creative influence depends on surprise. When once the freshness of the presentment has faded, the reader relapses into his daily habits. He looks for a vision and sees only phenomena So a great book must always come with a shock of novelty, convincing the enquirer that he is only at the beginning of things, and that experiences are only materials to paly with and reconstruct into a deeper or wider perception."

(Dr. H. V. Routh–'English literature and ideas in the *Twentieth century, page 2*)

मेरे विचार से वह अन्तर यह है कि किसी गम्भीर लेखक के दिमाग में यह बात स्पष्ट होनी चाहिए कि कोई कार्य कैसे किया जाए, यह प्रश्न उतने ही महत्व का नहीं है कि क्या किया जाय और क्यों किया जाय" ?

प्रयोग क्यों किये जाते हैं इस पर भी पाश्चात्य विचारकों द्वारा विचार हुआ है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक जॉन लिविंगस्टन लोवेस के अनुसार— "जब काव्य रूढ़ियाँ निर्जीव हो जाती हैं तो उस समय कवियों के सामने तीन रास्ते होते हैं:—

१. या तो वे उन रूढ़ियों को अपनाकर ग्रामोफोन की तरह उन्हें दुहराते जाते हैं।

२. या अपनी रचनात्मक प्रतिभा द्वारा उस मृत और खोखले रूपाकार में नई शक्ति और नया जीवन भर कर उसका स्वरूप ही परिवर्तित कर देते हैं।

३. अथवा वे विद्रोह करके 'पुराने सिक्कों' को बिल्कुल अस्वीकार कर देते हैं और 'नये सिक्कों' का निर्माण स्वयं करने लगते हैं। किन्तु कला के क्षेत्र में क्रिया-प्रतिक्रिया का चक्र चलता रहता है। रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह करके जो नई पद्धतियाँ निर्मित होती हैं वे स्वयं कालान्तर में रूढ़ि बन कर नई पद्धतियों के मार्ग में बाधा देने वाली हो जाती हैं, पहले की स्वतन्त्रता अब संकीर्णता का रूप धारण कर लेती है और नये विरोधी उसे परम्परा का अत्याचार कहने लगते हैं।"

वस्तुतः कविता में किसी विशेष युग की विशेष परिस्थितियों में कवि कुछ ऐसे सत्यों की उपलब्धि करता है जिनको पूर्ववर्ती कवि अपनी युग सीमाओं के कारण नहीं कर सके थे। पूर्ववर्ती कवि के छन्द, अलंकार, अप्रस्तुत योजना, बिम्ब, प्रतीक, परवर्ती कवि के लिये अयोग्य तथा अपूर्ण प्रतीत होते हैं क्योंकि इनके माध्यम से नये युग की बदली हुई परिस्थितियों में सत्यों की अभिव्यञ्जना नहीं की जा सकती है। युग परिवर्तन के साथ ही कवि की अनुभूतियाँ, सौन्दर्य-बोधात्मक संवेदनाएँ, नैतिक मूल्य, जीवन मूल्य भी परिवर्तित हो जाते हैं। ऐसे समय कवि को युग सापेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए, युगानुरूप चेतना के साथ, नये जीवन मूल्यों को इस प्रकार समन्वित करना पड़ता है कि वह दूसरों के लिये सम्प्रेषित हो सकें।

नई कविता में प्रयोग के साथ प्रयोगशीलता भी उसी प्रकार लग गई है जिस प्रकार प्रगतिवाद के प्रगतिशीलता। 'प्रयोग को संकुचित अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है और प्रगतिशील को व्यापक अर्थ में' जैसे प्रगतिवाद और प्रगतिशील में अन्तर था।

प्रयोगवादियों ने प्रयोग का अर्थ प्रयोग के लिये प्रयोग से लगाया। जिसका संकेत पहले ही किया जा चुका है कि यूरोप में प्रयोग के लिये यही संकुचित अर्थ प्रयुक्त होता था। इस बारे में 'अज्ञेय' के कथनों की परीक्षा की जाय तो अन्तर्विरोध स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। उनका कथन है—"कवि क्रमशः यह अनुभव करता आया है, कि जिन क्षेत्रों में प्रयोग हुये हैं, उनसे आगे बढ़कर अब उन क्षेत्रों में अन्वेषण करना चाहिये, जिनमें अभी नहीं हुआ है, जिनको अभेद्य मान लिया गया है। फलतः भाषा को अपर्याप्त पाकर विराम संकेतों से अंकों और सीधी-तिरछी लकीरों से, छोटे-बड़े टाइप से, सीधे या उल्टे अक्षरों से, लोगों या स्थानों के नामों से, अधूरे वाक्यों से सभी प्रकार के इतर साधनों से कवि यह प्रयोग करने लगा कि अपनी उलझी संवेदना की सृष्टि को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा सके।"

(१) "अभेद्य क्षेत्रों में वैज्ञानिक और शोधकर्ता जाते हैं, न कि कवि।

(२) उलझी हुई संवेदना वाली बात तो और भी भ्रामक है जिसको आगे चलकर व्यक्त किया जायगा।

(३) 'अज्ञेय' ने अभिव्यंजना पद्धति पर ही बल दिया है। 'अज्ञेय' के भाषा सम्बन्धी प्रयोग जेम्स ज्वॉयस ने पूर्व ही पर्याप्त मात्रा में किए हैं। यहाँ पर 'अज्ञेय' प्रयोगों के प्राण अनुभूत सत्य की उपेक्षा कर गये हैं। 'तार सप्तक' के दूसरे वक्तव्य द्वारा यह और भी स्पष्ट हो जाता है "जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उसकी सम्पूर्णता मे पहुँचाया जाय यह पहली समस्या है, जो प्रयोगशीलता को ललकारती है। इसके बाद इतर समस्याएं हैं—कि वह, अनुभूत ही कितना बड़ा या छोटा, घटिया या बढ़िया, सामाजिक या असामाजिक ऊर्ध्व या अधः या अन्तः या बहिर्मुखी है इत्यादि।"

यहाँ पर अभिव्यंजना सम्बन्धी प्रयोग कवि की प्रथम समस्या है फिर अनुभूत सत्य की कैसे अपेक्षा की जा सकती है। जबकि कवि के समक्ष मूल समस्या युग सापेक्ष्य सत्य की उपलब्धि की होती है। सत्य कभी घटिया, छोटा, अधोमुख, असामाजिक नहीं होता।

'दूसरे सप्तक' की भूमिका में अज्ञेय ने अपना दृष्टिकोण बदल दिया है—"तो प्रयोग अपने में इष्ट नहीं है, वह साधन है और दोहरा साधन है। क्योंकि एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है, जिसे कवि प्रेषित करता है, दूसरे वह उसे प्रेषण की क्रिया को और उसके साधनों को जानने का भी साधन है। अर्थात् प्रयोग ... कवि अपने सत्य को अच्छी तरह जान सकता है और अधिक अच्छी तरह व्यक्त ... है। वस्तु और शिल्प दोनों के क्षेत्र में प्रयोग फलप्रद होता है।"

(१) यहाँ पर शिल्प के प्रयोग पर ही नहीं, वस्तु प्रयोग पर भी बल दिया गया है। "अज्ञेय का आग्रह वस्तु में निहित अनुभूत सत्य पर उतना नहीं है जितना वस्तु के प्रयोग पर।"

(२) प्रयोग द्वारा सत्य को दूसरों के लिये सम्प्रेषित किया जा सकता है, लेकिन उस समय कवि अपने सत्य से अनभिज्ञ रहता है।

(३) अपने सत्य से अनभिज्ञ कवि से प्रयोगों के अस्तित्व की अपेक्षा नहीं की जा सकती।

लेकिन बाद में इसी भूमिका में अनुभूत सत्य की महत्ता पर बल दिया है — "केवल प्रयोगशीलता ही किसी रचना को काव्य नहीं बना देती। हमारे प्रयोग का पाठक या सहृदय के लिये कोई महत्त्व नहीं है, महत्त्व उस सत्य का है जो प्रयोग द्वारा हमें प्राप्त हो। प्रयोगों का महत्त्व कर्त्ता के लिये चाहे जितना हो, सत्य की खोज, लगन चाहे उसमें कितनी ही उत्कृष्ट हो, सहृदय के निकट वह सब अप्रासंगिक है। पारखी मोती परखता है, गोताखोर के असफल उद्योग नहीं।—इस प्रकार प्रयोग का 'वाद' और भी बेमानी हो जाता है। जो सत्य की शोध में प्रयोग करता है वह खूब जानता है कि उसके प्रयोग उसके निकट जीवन मरण का ही प्रश्न क्यों न हो, दूसरों के लिये उसका कोई महत्त्व नहीं। महत्त्व होगा शोध के परिणाम का।"

अज्ञेय ने Contemporary Indian literature में प्रयोगवाद नाम की व्याख्या करते हुए कहा है "मध्य, आधुनिक, व्यक्तित्व के अन्वेषक, मानववादी आन्दोलन को प्रयोगवाद नाम दिया गया है, जो विशिष्ट महत्त्व नहीं रखता है। लेकिन यह ह्रासोन्मुख सन्दर्भ में प्रयुक्त किया गया या जैसा कि छायावाद अपने प्रारम्भिक दिनों में प्रयुक्त हुआ था।"

आगे चलकर 'अज्ञेय' ने प्रयोगवाद नाम का कड़े शब्दों में विरोध किया है—"यदि नैतिक दृष्टि से नैतिकता से सम्बन्धित, नए मूल्यों को व्याप्त, मूलभूत संवेदनाओं का गवेषणात्मक परीक्षण, मूल्यों के स्रोतों की खोज को प्रयोग कहा जा सकता है, तो नया आन्दोलन भी इस नाम के लिये उपयुक्त है। सामान्य रूप से इस सम्प्रदाय के कवि अपनी सर्जना को नई कविता कहलाना पसन्द करते हैं।"

इस प्रकार 'अज्ञेय' ने दूसरा नाम 'नयी कविता' सुझा दिया। आगे चलकर यही प्रयोगवाद नई कविता में परिणत हो गया।

अन्य प्रयोगवादियों ने भी इस नाम का विरोध किया है। लेकिन शमशेर बहादुरसिंह ने एक स्थान पर कहा है:—

"मैं अगर दो शब्दों का प्रयोग करूँ तो ज्यादा अच्छा होगा-प्रयोग और

'प्रयोग' प्रयोग जैसा कि अज्ञेय ने स्पष्ट किया है, निरन्तर होते आये हैं। प्रश्न के अन्तर्गत मेरा निवेदन यह है—वह, वह एक रुझान है, जो उपरोक्त दो कविता संग्रहों (तार सप्तक दूसरा सप्तक) में और आमतौर से 'प्रतीक' की कविताओं में पाया जायगा और वह हिन्दी में नई आज की चीज़ है। यह चीज़ यूरोप में १६ वीं शताब्दी के अन्त में पैदा हुई, पहले विश्वयुद्ध के आसपास परवान चढ़ी और अब अमरीका को छोड़कर अन्य जगहों में कमजोर पड़ गई है। उर्दू में भी यह चीज़ आई थी मगर मजाज, साहिर, सरदार, मखदूम, कैफ़ी, जोश की कविताओं ने उसे बिल्कुल दबा दिया। इस रुझान में 'सिम्बोलिज्म' और 'फार्मेलिज्म' (प्रतीकवाद और रूप प्रकारवाद) के नाना रूप और छायाएँ हैं। यूरोप में ये आन्दोलन लगभग अपना काम पूरा कर चुके, हिन्दी में इनका युग आना बाकी था, सो आया।"

शमशेरबहादुरसिंह के कथन से स्पष्ट हो जाता है—

(१) प्रयोगवाद पाश्चात्य काव्य जगत की देन है।

(२) प्रयोग रुझान है जो 'तार सप्तक' और 'दूसरा सप्तक' 'तीसरा सप्तक' तथा 'प्रतीक' की रचनाओं से प्रकट होता है।

वैसे 'प्रयोगवाद' नाम असंगत है, क्योंकि :—

(१) प्रयोग शाश्वत है। प्रत्येक युग में प्रयोग होते रहते हैं। कबीर के शैली, विषय सम्बन्धी प्रयोग अनूठे थे। आधुनिक युग में सुमित्रानन्दन पन्त का काव्य भी स्वयं प्रमाण है।

(२) प्रयोगवादी कवियों ने 'प्रयोग के लिये प्रयोग' किये हैं। प्रयोगशीलता को कम अपनाया है।

लेकिन अनेक विरोधों के बाद भी 'प्रयोगवाद' शब्द व्यवहृत हो चुका है। अतः हम भी उसे आधुनिक कविता की एक विशेष प्रवृत्ति के लिये प्रयुक्त करते हैं। पिछले युग में हुए काव्य प्रयोगों तथा प्रयोगवादी प्रयोगों का अन्तर स्पष्ट करते हुए बालकृष्ण राव ने कहा है—"पिछले सभी प्रयोग चाहे वे विषयवस्तु को लेकर किये गये हों, या अभिव्यञ्जना के साधन को, किसी न किसी विशिष्ट रेखा द्वारा मर्यादित क्षेत्र के भीतर ही होते रहे, फलतः वे प्रयोगशील अथवा प्रयोगवादी ग्रन्थ न बन सके।' उपरोक्त लेखक प्रयोगवाद को अमर्यादित, निर्बन्ध, उच्छृंखल बना देने पर तुला हुआ है। विभाजक रेखा पूर्णतया अस्पष्ट है, कबीर ने अपनी समस्त परम्पराएं तोड़ दी थीं। वह भी निर्बन्ध था।

प्रयोगवाद की अभिव्यक्ति में बिहार के एक प्रादेशिक गुट ने 'न-के-न वाद' को जन्म दिया जो कि वास्तव में प्रयोगवाद का विकृत तथा बीभत्स प्रतिरूप है।

अज्ञेय ने कहीं प्रयोगवाद में प्रयोगों को 'साधन' घोषित किया वहीं, न-के-न वादी उन्हें 'साध्य' स्वीकार करते हैं।

अब आता है प्रश्न, प्रयोगवाद के दूसरे नाम 'नई कविता' का। लेकिन एक आश्चर्य यह है कि अज्ञेय ने 'तार सप्तक' में 'प्रयोग और प्रयोगशीलता' पर बल दिया है, दूसरे तार सप्तक में उसका प्रबल विरोध किया है। इसका कारण यह भी हो सकता है 'जैसे देश में अराजकता उत्पन्न करने वाला विद्रोही शासनाधिकारियों की गिरफ्त से बचने के लिये तथा उनकी नज़र बचा जाने के लिये भिन्न-भिन्न रूप और नाम बदलता रहता है, वैसे ही यह नई कविता भी शायद समालोचकों के कठोर अनुशासन एवं नियन्त्रण से बचते रहने के लिये अपना नाम और रूप बदलती रही है। पूछा जा सकता है कि फिर नई कविता की यह परिवर्तन परम्परा क्यों चल पड़ी? इसका उत्तर भी सरल है। नाम-रूप का परिवर्तन संस्कारों में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता, नाम-रूप के बदलने पर भी स्वभाव संस्कार, आदतें और आचरण में कोई अन्तर नहीं आता। उधर साहित्य के अनुशासक भी नई कविता के पीछे पड़ गए। आज तो नई कविता के विद्रोही ने आज की बदली हुई भौतिक परिस्थितियों और परिवेश में नवीन रूप से शक्ति संचयन कर लिया है और अब तो वह अनुशासकों के सामने मोर्चाबन्दी करके खुले रूप से आ गया है।" इस कथन में सत्य का अंश निहित है। (ब्रज लाल वर्मा)

यह सत्य है कि कुछ प्रगतिवादियों ने अपने साथ प्रयोग को भी आत्मसात कर लिया है। रामविलास शर्मा, भारतभूषण अग्रवाल, नेमीचन्द जैन, ऐसे ही कवि हैं। शिवमंगलसिंह 'सुमन', रांगेय राघव, शील, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल आदि कवियों ने अपनी परम्परा को अक्षुण्ण बनाने का भरसक प्रयास किया है। लेकिन 'अज्ञेय' के कथनानुसार—"प्रगतिवादी व्यापक उद्देश्य को लेकर ही प्रयोगवादी क्षेत्र में आये हैं। वह व्यापक उद्देश्य है, नये सत्य की खोज।" लेकिन प्रयोगवाद और प्रगतिवाद का अन्तर स्पष्ट है।

(१) एक वर्ग सचेत होकर निश्चित सामाजिक राजनीतिक प्रयोजना से साम्यवादी जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति को अपना परम कवि-कर्तव्य मान कर रचना करने लगा है। दूसरे वर्ग ने सामाजिक राजनीतिक जीवन के प्रति जागरूक होते हुए भी अपना साहित्यिक व्यक्तित्व बनाये रखा।

(२) प्रयोगवाद मूलतः वर्ग संघर्ष को नकारात्मक स्थान देता है और व्यक्ति की चेतना को अपनी वस्तु-स्थिति से अलग करके देखने का प्रयास करता है।

(३) प्रगतिवादी शिल्प, वस्तु शैली की चिर प्रयोगशीलता पर उतना विश्वास नहीं करता जितना प्रयोगवादी उसके प्रति आग्रही हैं।

(४) प्रगतिवाद मार्क्स के सिद्धान्त, रूस की क्रान्ति से प्रभावित हैं। जबकि प्रयोगवाद फ्रायड, टी० एस० इलियट, इजरापाउण्ड, कमिंग्स, सार्त्र से प्रभावित हैं।

प्रगतिवाद का जब अवसान हुआ तो अनेक कवि प्रयोगवादी आन्दोलन में भर्ती हो गये। उन्होंने प्रयोगों को आत्मसात कर लिया।

नई कविता के अनुयायियों ने विशिष्ट शैली की रचना को 'नई कविता' का नाम दिया है। प्रयोगवाद नाम तो उस जीर्ण-शीर्ण वस्त्र के समान हो चुका है जिसको नई रुचि वाला युवक उतार कर फेंक देना चाहता है।

नयी कविता के बारे में गिरिजा कुमार माथुर ने कहा है —

'मौजूदा कविता के अन्तर्गत वह दोनों प्रकार की कविताएं कही जाती रही हैं जिनमें एक ओर या तो शैली, शिल्प और माध्यमों के प्रयोग होते रहे हैं या दूसरी ओर सामाजोन्मुखता पर बल दिया जा रहा है। लेकिन नई कविता हम उसे मानते हैं, जिसमें इन दोनों के स्वस्थ तत्वों का सन्तुलन और समन्वय है। यह नई कविता नये शिल्प और उपमानों के प्रयोग के साथ समाजोन्मुखता और मानवता को एक साथ मंजूल में भरे भविष्य की ओर अग्रसर हो रही है।

इस परिभाषा के आधार पर नयी कविता का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो जाता है। 'कामायनी' भी नई कविता के अन्तर्गत आ जाती है। उसमें शिल्प और समाजोन्मुखता का समन्वय है। नये उपमानों के प्रयोग हुए हैं। अतीत और वर्तमान का समाहार और अतिक्रमण करते हुए भविष्य के प्रति गतिमानता है।

लेकिन नई कविता का अर्थ जिस सङ्कुचित अर्थ में लिया गया है वह भी अनुचित है। कविता तो नई वह है जो पुरानी परम्परा से विलग होकर नये विकास की सूचना देती है। नये विकास बौद्धिक चेतना, भाववस्तु, अभिव्यंजना-शैली प्रत्येक क्षेत्र में देखे जा सकते हैं। दूसरे आज जो नई कविता है, कल आने वाले युग के लिये क्या वह नई रह पायेगी! अतः 'नई कविता' नाम उतना उपयुक्त नहीं है।

डॉ० शम्भूनाथसिंह ने दोनों का अन्तर करते हुए कहा है— "नई कविता नाम प्रचलित हो जाने के बावजूद बहुत से लोग प्रयोगवाद और नई कविता में कोई भेद नहीं मानते क्योंकि बाह्यरूपाकार की दृष्टि से दोनों में विशेष अन्तर नहीं है। किन्तु आन्तरिक तत्वों पर अभिव्यंजना पद्धति का विश्लेषण करने पर दोनों में बहुत अधिक अन्तर दिखाई पड़ता है। -बीसवीं शताब्दी के पांचवें दशक के आरम्भ में प्रयोग और प्रतिक्रिया की बहुलता लेकर पूर्ववर्ती छायावादी शैली की

कविताओं से भिन्न जो तर्कपूर्ण उपदेशात्मक और परम्पराभंजक कविता सामने आयी, उसे आलोचकों ने प्रयोगवाद नाम दिया।—छठे दशक के प्रारम्भ के साथ ही प्रयोग के अतिरिक्त उत्साह से मुक्ति पाकर हिन्दी कविता नई दिशा में मुड़ी, जिसमे परम्परा को आत्मसात् करके स्वीकारने और स्वानुभूति की सघनता के दबाव से विवश होकर सहज आत्माभिव्यक्ति करने की प्रवृत्ति प्रमुख थी।

केवल आत्माभिव्यक्ति के आधार पर प्रयोगवाद और नई कविता को पृथक्-पृथक कह देना उचित नहीं है। वस्तुतः नई कविता प्रयोगवाद का ही विकसित रूप है। आत्माभिव्यक्ति, लय का अभाव, उसकी नई विकासोन्मुख प्रवृत्तियां हैं। बाह्य सज्जा मे दोनो एक हैं। दोनों के विभाजन की कोई स्पष्ट रेखाएं भी नही हैं। यहां पर प्रयोगवादी कविताओं मे उठाये गये कतिपय प्रश्नों पर विचार करेंगे।

(१) नये सत्य की खोज :

भूमिका लेखक अज्ञेय के अनुसार प्रत्येक युग का अपना एक सत्य होता है। दूसरे युग में उसकी कोई महत्वता नही रह जाती। 'तार सप्तक' की भूमिका में 'अज्ञेय' ने प्रयोगों का सर्वप्रथम उद्देश्य काव्यगत नये सत्य की खोज बताया है। 'दूसरा सप्तक' में इस सत्य के महत्त्व का विस्तार करते हुए लिखा है—'महत्त्व उस सत्य का है, जो प्रयोगों द्वारा हमें प्राप्त हो। क्योंकि 'पारखी' मोती परखता है, गोताखोर के असफल उद्योग नहीं।

इसी काव्यगत नये खोज की प्रयोगवादी कवि ने नयी राहों का अन्वेषण किया तथा अभेद्य क्षेत्रों की ओर जाने की अपनी रुचि प्रकट की। विचारों में घोर असमानता होते हुए भी उन्हें एक सूत्र में बांध दिया।

(१) लेकिन कवि का उद्देश्य तथा लक्ष्य सत्य की खोज न होकर, उसका प्रकाशन और प्रकटीकरण होता है।

(२) "अन्य प्रयोगवादी ने सत्य की जो व्याख्या की है, वह अज्ञेय से भिन्न है—आज के काव्य का सत्य वे बाह्य वास्तविकताएँ हैं जिनके बीच से हमारा साहित्य गुजर रहा है।" (गिरिजाकुमार माथुर)

(३) 'अज्ञेय' ने यह नही बताया कि नई कविता के कवि अन्वेषी किस वस्तु के हैं। अपने काव्य सम्बन्धी व्यक्तिगत अनुभवों मे इसे स्पष्ट किया है। "प्रयोग (या अन्वेषण) सभी कालों में कवियों ने किया है। किन्तु कवि क्रमशः अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रों मे प्रयोग हुए हैं, उनसे आगे बढ़कर अब उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिये, जिन्हें अभी नहीं छुआ गया है या जिनको अभेद्य मान लिया गया है।"

(४) जब सत्य अनिश्चित है, तब शाश्वत मार्ग के निर्देशन के प्रश
मान्यताओं का प्रश्न नहीं है। यदि प्रयोग ही सत्य हैं, तो उनक
क्या है ?

(२) उलझी हुई संवेदनाएं और साधारणीकरण

'तार सप्तक' में अज्ञेय ने साधारणीकरण के बारे में बहुत कम
भाषा से सम्बन्धित विचारों को व्यक्त करते हुए अनुभूति की कि उनकी भ
अन्य युग के काव्य-तत्व की प्रेषणीयता के लिये भले ही पर्याप्त हो, पर
ज्ञानों के इस युग में वह व्यापकता शेष नहीं रह गई जो शब्द के साधारण
अर्थ अर्थ होकर कवि के सामने उपस्थित समस्या का समाधान कर सके।
नई भाषा की खोज हुई और विविध उपायों को काम में लाया गया। उ
संवेदनाओं को पाठक तक पहुँचाने में दूसरी और इस उद्देश्य के हेतु ऐ
उपायों का आश्रय लेने में कवि को पूर्णतया असफलता मिली। उसे पाग
समझा गया। 'अज्ञेय' ने ऐसे लोगों को चेतावनी देते हुए लिखा था—"बहुत
इस बात को भूल गये हैं कि कवि आधुनिक जीवन की एक बहुत बड़ी स
सामना कर रहा है। भाषा की क्रमशः संकुचित होती हुई सार्थकता की केंचु
कर उसमें नया अधिक व्यापक, सारगभित अर्थ भरना चाहता है और अ
कारण नहीं—इसलिये कि उसके भीतर इसकी मांग स्पंदित है कि वह व्य
को व्यापक सत्य बनाने का सनातन उत्तरदायित्व अब भी निबाहना चाहता ह

'दूसरा सप्तक' में भाषा सम्बन्धी विकास क्रिया का उल्लेख करते ह
ने लिखा है—"इस प्रकार विकास की किस प्रक्रिया द्वारा किसी भाषा से शब
समय पर नये चमत्कार व नये अर्थों से पूर्ण होते रहे हैं और अपना कार्य सम
कालान्तर में अभिधेय बन जाते हैं तब उनमें पुनः नया अर्थ व नया चमत्कार
उन्हें जीवित किया जाता है और इस प्रकार का क्रम सर्वत्र ही चला करता है

इसी तारतम्यता में 'अज्ञेय' ने साधारणीकरण सम्बन्धी अपनी मा
की परम्परागत मान्यता के विरोध में प्रकट किया है।

जब चमत्कारिक अर्थ मर जाता है और अभिधेय बन जाता है तब उ
की रागोत्तेजक शक्ति भी क्षीण हो जाती है। उस अर्थ से रागात्मक सम्बन
स्थापित होता। तब उस अर्थ की प्रतिपत्ति करता है जिससे पुनः राग का संब
पुनः रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो। साधारणीकरण का अर्थ यही है।

उलझी हुई संवेदना के बारे में 'अज्ञेय' का मत है - "इस उलझी
के दो कारण हैं—आन्तरिक संघर्ष और बाह्य संघर्ष। आन्तरिक संघर्ष के फल

'आज के मानव का मन यौन परिकल्पनाओं से लदा हुआ है, और वे कल्पनाएं सब दमित और कुण्ठित हैं। उसकी सौन्दर्य-चेतना भी इससे आक्रान्त है। उसके उपमान सब यौन प्रतीकार्थ रखते हैं और इस आन्तरिक संघर्ष के ऊपर जैसे काठी कसकर एक बाह्य संघर्ष भी बैठा है, जो व्यक्ति और व्यक्ति का नहीं, व्यक्ति-समूह का, वर्गों और श्रेणियों का संघर्ष है। व्यक्तिगत चेतना के ऊपर एक वर्गगत चेतना भी लदी हुई है और उचितानुचित की भावनाओं का अनुशासन करती है, जिससे एक दूसरे की वर्जनाओं का पुंज खड़ा होता है।'

(१) उलझी हुई संवेदनाओं की अक्षुण्ण अभिव्यक्ति को नई भाषा खोजने का प्रयास आंग्ल-भाषा के कवियों द्वारा भी किया गया था, जिससे भाषा गूढ़, विशृङ्खलित, अगम्य हो गई थी। इस बड़े और सारगर्भित अर्थ भरने को प्रयोगवादियों की भाषा का क्या रूप होगा, यह स्पष्ट देखा जा रहा है।

(२) 'अज्ञेय' का कथन है कि साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियां आज के जीवन की अतिशय उत्तेजना को वहन करने में असमर्थ हैं। नई प्रणालियों की उद्‌भावना अभी न्हीं हुई, इसलिये कवि अपने अर्थात व्यक्ति के अनुभूत को सहृदय-समाज का अनुभूत बनाने मे असमर्थ रहता है, असत्य है। प्रयोगवादी कवि नवीनता की धुन में साधारणीकरण का प्रयास नहीं करता। यदि प्रयास करता है तो उनसे साधारणीकरण के मूल सिद्धान्तों का निषेध करता है। वास्तव में साधारणीकरण एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसका मूल आधार मानव-सुलभ सह-अनुभूति है।

(३) 'अज्ञेय' ने साधारणीकरण का अर्थ, अर्थ की उस प्रतिपत्ति से लगाया है जिससे पुनः राग का सचार हो। यही कारण है नई कविता मे मकरन्द के स्थान पर पसीना और मूत्र, मृग और उसकी चचलता के स्थान पर गधा और उसका बुद्धूपन साधारणीकरण के माध्यम बनाये गये हैं, जो साधारणीकरण के लिये विकृति मात्र हैं।

(४) उलझी हुई संवेदनाओं पर फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद का प्रभाव है।

(५) जिस माध्यम से उलझी हुई संवेदनाओं को प्रयोगवादी रखना चाहते हैं उससे संवेदनाएँ सुलझने की अपेक्षा उलझ जायेंगी।

(६) प्रयोगवादियों की दृष्टि 'व्यक्ति द्वारा अनुभूत सत्य' को 'समष्टि' तक पहुँचाने के लिए, कतिपय समान मानसिक स्थिति वाले व्यक्तियों तक पहुँचकर ही सीमित रह जाती है। इससे कविता लोक ग्राह्य नहीं हो पाती है। साधारणीकरण तथा सम्प्रेषणीयता ही काव्य के अधिकाधिक प्रसार तथा प्रचार का कारण होती हैं।

(७) प्रयोगों की अतिशयता से नई कविता दुरूह हो गई है । पाठकों का विशिष्ट समुदाय बनाकर कविता अस्तित्व नहीं बना सकती है ।

(८) अज्ञेय ने व्यक्ति सत्य (कवि की अनुभूति) और व्यापक सत्य (सार्वजनिक अनुभूति) का अन्तर बौद्धिक भूमि पर किया है जो उलझी हुई संवेदना पर आधारित है । प्रयोगवादियों का व्यक्ति सत्य, व्यापक सत्य तभी बन सकता है जब कवि सामान्य भावभूमि पर उतर कर समस्या का समाधान न खोजे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है—"सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहिचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके ।"

लगता है 'अज्ञेय' पर इन आलोचनाओं का प्रभाव पड़ा है, साधारणीकरण की समस्या पर द्वितीय तथा तृतीय सप्तक के बीच की अवधि में विचार किया गया है । तभी कहा है 'नये (या पुराने भी) विषय की कवि की संवेदना पर प्रतिक्रिया और उससे उत्पन्न सारे प्रभाव जो पाठक-श्रोता, ग्राहक पर पड़ते हैं और उन प्रभावों को संप्रेष्य बनाने में कवि का योग मौलिकता की कसौटी पर यही है ।"

अज्ञेय ने 'संप्रेष्यता' पर बल देना प्रारम्भ कर दिया है जो उसके साधारणीकरण के बारे में सोचने का प्रतीक था । बाद में कवि ने आड़ी-तिरछी, विराम रेखाओं की उतनी बात नहीं की ।

(३) रस और बौद्धिकता :

'अज्ञेय' ने रस सम्बन्धी कोई विचार प्रस्तुत नहीं किये हैं । लेकिन अनुयायियों ने निम्न तथ्य प्रस्तुत किये हैं :—

१. प्रयोगवादी कविता का लक्ष्य रसानुभूति नहीं है ।
२. रस सिद्धान्त से उसका विरोध है । (जगदीश गुप्त)
३. रस के स्थान पर बौद्धिकता उनका लक्ष्य है ।
४. काव्य की आत्मा को चमत्कार, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति रस सम्बन्धी मान्यताएं उतनी प्रमुख नहीं है जितनी कि बौद्धिकता है ।
५. बौद्धिकता का पूर्ण समर्थन होने से भावुकता, मुक्तान्तता, वेदना की उपेक्षा होने से कविता नश्वर हो जाय तो कोई चिन्ता नहीं ।
६. काव्यशास्त्रियों द्वारा निर्धारित नव रसों के अन्तर्गत प्रयोगवादी काव्य नहीं आता है, अतः नये कवियों ने एक नये रस की खोज की है जिसे बुद्धिरस के नाम से अभिहित किया गया है ।

इन तथ्यों पर यदि विचार किया जाय तो :—

(१) यह सत्य है कि अति भावुकता न तो श्लाघ्य है और न समीचीन ही, लेकिन अतिभावुकता के विरोध मे अतिबौद्धिकता को अपना लेना भी समीचीन प्रतीत नहीं होता। किसी भी साहित्य की श्रेष्ठ कविता भावुकता और बौद्धिकता के उपयुक्त सन्तुलन को लिये हुए होती है।

(२) यह भी सत्य है कि भावबोध परिवर्तित हो गया है। परन्तु प्राचीन रस सिद्धान्त सर्वमान्य, सार्वकालिक है, यदि वह युग की परिस्थितियों के अनुकूल नहीं है तो उसको त्याज्य न समझकर उसको परिष्कृत तथा परिमार्जित करने की आवश्यकता है। नई कविता के समर्थकों को इस पर विचार करना चाहिये।

(३) प्रयोग काव्य के साधक हैं, साध्य नहीं। काव्य की आत्मा को अस्वीकार करके, बौद्धिकता को स्थान देना, काव्यगत मूल्यों का अनुचित तथा अनावश्यक क्रम विपर्यय है।

(४) काव्यशास्त्र के अनुसार कोई भी रचना रस रहित होने पर काव्य के अन्तर्गत स्वीकार नहीं की जा सकती है। काव्यशास्त्रों में कविता का उद्भव हृदय तथा उसकी ऊपर आत्मा द्वारा स्वीकार किया गया है। यही कारण है कि वास्तविक कविता (Genuine Poetry) तथा पद्य-रचना में बहुत अन्तर होता है। लिविस ने ड्रायडेन, पोप तथा उनके वर्ग के कवियों की कविताओं और वास्तविक कविताओं में अन्तर स्पष्ट किया है। अतः बुद्धि रस पर जीवित कविता कितने समय तक अस्तित्व बना सकेगी, यह स्पष्ट ही है!

(४) परम्परा:—

अज्ञेय ने 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में स्पष्ट किया है कि कवि के लिए परम्परा का क्या स्थान है, वह कहां तक ग्राह्य है ? अथवा अग्राह्य है।

"जो लोग प्रयोग की निन्दा के लिये परम्परा की दुहाई देते हैं वे यह भूल जाते हैं कि परम्परा कम से कम कोई ऐसी पोटली बांधकर अलग रखी हुई चीज नहीं है, जिसे वह उठाकर सिर पर लाद ले और चल निकले। परम्परा का कवि के लिये कोई अर्थ नहीं रखता। जब तक वह उसे ठोक-बजाकर, तोड़-मरोड़ कर आत्मसात नहीं कर लेता, जब तक वह एक इतना गहरा संस्कार नहीं बन जाती कि उसका चेष्टा पूर्वक ध्यान रखकर उसका निर्वाह करना आवश्यक न हो जाय।"

धर्मवीर भारती और लक्ष्मीकान्त वर्मा ने इसका समर्थन करते हुए लिखा है "हम नये इसलिये हैं, क्योंकि हमारा पाठक आधुनिक है, उसकी समस्याएं नई हैं,

उसका सारा परिवेश मरा है। हम मरा इसलिये लिखते हैं कि मरा देखना ही यथार्थ है, हमारा पाठक इसलिये पढ़ता है कि हमारा और उसका यथार्थ अलग-अलग नहीं है। यही परम्परा, जो हम एक कर्मभ्रष्ट पुत्र की भांति उसे बहता का तोड़ नहीं देखा चाहते—और न मोंचकर समझते हैं कि सांपों की भांति धीरे धीरे ही बौद्धिक मौत मर कर उस पर गोल बनकर बैठ जाएं और अपनी राह जाते चले हुए अपने मानुष पर अकारण फुफकारते रहें।"

अज्ञेय द्वारा उठाया गया 'परम्परा' का प्रश्न सार्थक है लेकिन वह उसे स्पष्ट नहीं कर पाया। फलस्वरूप उनके अनुयायियों ने स्पष्टीकरण तथा निर्देशन के अभाव में परम्परा को प्रमुख स्थान नहीं दिया। नरेश मेहता का कथन है—"प्रयोगों की नींव पर टिका आज का अधिकांश काव्य परम्परा के अस्वीकार का काव्य है।" नई तकनीक, नये शिल्प प्रकार, नये विषयों से काव्य परम्परा हीन हो गई है। इलियट के साथ भी यही हुआ। उनके अनुसार — 'परम्परा का कवि के लिए तभी कोई अर्थ हो सकता है, जब वह उसे आत्मसात करले और मस्तिष्क में स्थायी स्थान प्रदान करदे।" इलियट के अनुयायियों ने इलियट के परम्परा विरोध को तो देखा, जिसे लक्ष्य बनाकर वे आगे बढ़ गये, लेकिन परम्परा के बारे में उन्होंने आँखें बन्द करली।

(५) असामाजिकता:—

कुछ पुराने आलोचकों द्वारा प्रयोगवाद पर असामाजिक होने का आरोप लगाया गया है।

डॉ० रघुवंश ने बताया कि— "नई कविता पर असामाजिकता का आरोप लगाना उचित नहीं है। क्योंकि यह युग अन्ध जड़ता का युग है जिसमें समस्त सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा आर्थिक मान्यताएं झूठी पड़ गई हैं।—यह समाज व्यापी कुण्ठा, निराशा, अवसाद तथा 'अन्धआस्था' का परिणाम है कि हम इन सबके बावजूद व्यक्तिगत स्वार्थी, बेईमानी, घूसखोरी, चोरबाजारी, अकर्मण्यता से अपने को बचाने में असमर्थ हैं। — आज की इस सामाजिक परिस्थिति ने कवि को संवेदित किया है। वह इस सर्वग्राही जड़ता और कुण्ठा का अनुभव अपने जीवन में कर रहा है। यह कुण्ठा पलायनवादी न होकर परिस्थिति जन्य है। आज के कवि का संघर्ष, उसकी आशा-निराशा-जन्य कुण्ठाएं व्यक्तिगत से अधिक सामाजिक है।

लेकिन डॉ० रघुवंश का यह कथन संदेहास्पद है। डॉ० रघुवंश को ध्यान रखना चाहिये था कि:—

(१) ये कुण्ठाएं कतिपय व्यक्तियों तक ही सीमित हैं। अन्य सामाजिकों पर इनका प्रभाव कम है।

(२) नये कवियों ने कुण्ठाओं को ही अधिक व्यक्त किया है, उनके कारणों को क्यों नहीं। कुण्ठाग्रस्त समाज का उद्धार केवल कुण्ठाओं के संकेत मात्र कर देने से नहीं हो सकता है। अपितु उन कुण्ठाओं को उत्पन्न करने वाले कारणों की ओर संकेत करना भी अनिवार्य है।

(३) समाज में एक ओर कुण्ठा, निराशा, अंध जड़ता है, दूसरी ओर आशा, विश्वास की लौ भी जल रही है। फिर उधर ही नये कवि क्यों नहीं उन्मुख होते।

(६) अर्थलयवाद:—

जगदीश गुप्त ने नई कविता को एक नई चीज दी है वह है अर्थ की लय। जगदीश गुप्त ने प्रयोगवाद में लय के अभाव को उचित बताते हुए कहा है कि "संगीतात्मकता के स्थान पर प्रयोगवादी कविता में 'अर्थ की लय' रहती है। लय निश्चित रूप से गति और यति से उत्पन्न होती है। यदि गति में निश्चित स्थान पर विराम लगता है तभी लय पैदा होती है। जगदीश गुप्त ने इसके दः उदाहरण प्रस्तुत किए हैं:—

अर्थ की लय से हीन पद्य:—

> बंजर बुंदेली धरती पर केन सहारे,
> कालिंजर का दुर्ग नहीं है दूर यहां से,
> कोसल जन संस्कृति के अचल की सीमा पर,
> चित्रकूट की छाया में यह नगर बसा है।

अर्थ की लय से युक्त पद्य:—

> रात का बन्द नीलम किवाड़ा डुला,
> लो क्षितिज छोर पर देव मन्दिर खुला,
> हर नगर झिलमिला, हर डगर को खिला,
> हर बटोही मिला, ज्योतिप्लावन चला।

(१) यहां पर अर्थ की लय नहीं है। गति को प्रत्याशित, कहीं अप्रत्याशित रूप से विराम देने का प्रयास किया है, जिससे संगीतात्मकता आ गई है।

(२) शब्दार्थ जो गति पकड़ते हैं। वह गति से उत्पन्न लय है।

(३) गति का अत्यधिक क्षीण होना ही 'गद्य' हो जाता है।

(४) दोनों उदाहरणों में वस्तु व्यंजना है। यदि अर्थ की लय है भी, तो दोनों में है। लेकिन शब्द और अर्थ में अपनी लय नहीं होती है।

अतः आधुनिक युग का यह सिद्धान्त पूर्ण असत्य है। यह दर्शनशा
स्त्र के विरुद्ध किन्तु, कहीं किसी नवीनी बातें सिद्धान्त का ही एक अंग है।

(७) लघुमानववाद —

लक्ष्मीकान्त वर्मा ने 'नई कविता के प्रतिमान' में लघुमानववाद की व्या
की है। वर्मा के अनुसार छायावादकाल और प्रगतिवाद में महामानव की पू
हुई। छायावादवादी महामानवों, तथा प्रगतिवाद में तानाशाही व्यक्ति पूजा
एक रूप थी। लेकिन प्रयोगवाद मनुष्य की लघुता पर अधिक विश्वास करता
तथा सुपरमैन (महामानव) में वह आस्था नहीं रखता। वर्मा के अनुस
प्रयोगवाद के समय की परिस्थितियाँ बदल गई हैं। 'आज का युग सत्य है।
महामानव के निर्माण में मानव समाज ने आज तक जितनी आहुतियाँ दी हैं उन
कोई महत्वपूर्ण परिणाम नहीं निकला है। जीवन के चारों ओर जो घुटन और द
अपना समस्त संवेदना के साथ बार-बार दबे हुए सत्य को उभारती रही है, उस
एक नियमित मूल्य रहा है और इस मूल्य की गहराई और बुनियादी अस्तित्व
बहुत बड़ा महत्व भी है।" लक्ष्मीकान्त वर्मा ने इसको प्रमाणित करने के लि
पुरुषोत्तम खरे की एक कविता का उदाहरण दिया है:—

> हम छोटे नये लोग
> खोजों के पीछे पागल हैं
> अनस्पर्श छूने को व्याकुल हैं
> अनगढ़ गढ़ने में रत हैं हम।
> आजमा रहे हैं वे रंग
> जो उड़ न पाये धूप में
> हम छोटे नये लोग। नींव और सीढ़ियाँ॥

आगे लक्ष्मीकान्त वर्मा ने कहा है 'महामानवों की शृंखला की सबसे बड़ी
विद्रूपता यह रही है कि उन्होंने अपने झंडे और पताके उठवाकर अपना जुलूस तो
निकलवाया है किन्तु उन्होंने इस दिशा में ध्यान नहीं दिया कि उनके पीछे चलने
वालों के जन-समुदाय में कितने ऐसे हैं जो इस महा रथ-यात्रा में केवल घुटकर मर
रहे हैं और वस्तुतः यह रथ-यात्रा उनको कुचलकर बढ़ने का प्रयास कर रही है जं
अपनी लघुता के परिवेश में इनसे कहीं अधिक पूर्ण थे क्योंकि वे जीवन का प्रत्ये
क्षण जीवित रहकर बिताना चाहते थे और उस बिताने में वे आतंक से अधिक
अपनी आन्तरिक आस्था और जीवन के यथार्थ से परिचालित थे।' आगे कहा है
'वे रथ जिनमें महाप्रभु की प्रतिमा रखकर यात्रायें की जाती थीं आज उनकी धुरियां
टूट चुकी हैं, स[illegible] नमस्कार नष्ट हो चुके हैं। रथ यात्रा में जुते हुए मान

समूह की चेतना आज मात्र यंत्रवत् अस्तित्वहीन, अयथार्थ शक्तियों से परिचालित नहीं की जा सकती।'— 'ये प्रतिमाएं टूट रही हैं और इनके टूटने से जो उपलब्धियां प्राप्त हो रही हैं उनका मूल्य और उनका अस्तित्व मानव चेतना में अधिकाधिक आत्म-विश्वास और आत्म-बल भर रहा है।'

(१) लक्ष्मीकान्त वर्मा का लघुमानववाद, आत्मस्वाभिमान के लिये विरोधी है। लघुता की भावनाहीन-भावना का ही प्रतिरूप है।

(२) महामानव की कल्पित मूर्ति निश्चित लक्ष्य और आदर्शमय जीवन के लिये प्रेरित करती है। जबकि लघुता उसे पतन की ओर ले जाती है।

(३) प्रतिमाओं के टूटने से उपलब्धियां क्या होंगी ? यह समझ मे नहीं आता। निराशा और कुण्ठाए ही हाथ आ सकती हैं। कुशल शिल्पी की तरह उस अनगढ़ प्रतिमा को सुघड़ बनाया जा सकता है।

(४) खरे की कविता निराशा, वेदना, कुण्ठा से युक्त है जो लघुमानववाद की ही देन है, या कहो वर्मा जी की नकल है।

यह सिद्धान्त भी अमान्य है। क्योंकि स्वयं नये कवियों तथा आलोचकों को ही इस पर आस्था नहीं है। जगदीश गुप्त ने विरोध करते हुए कहा है—"क्या लघुमानव की भावना स्वाभिमान को प्रेरक हो सकती है ? मेरे विचार से मानव स्वाभिमान तथा व्यक्तित्व से सम्पन्न मनुष्य अपने को लघु माने, यह आवश्यक नहीं है। यदि 'लघुता' को एक मानव मूल्य माना जाय तो यह निश्चित रूप से स्वाभिमान का विरोधी सिद्ध होगा।' मेरे विचार से नई कविता के प्रतिमानों की खोज में उत्साहवश लघुता पर अत्यधिक बल देना आवश्यक है।"

अब नई कविता पर थोड़ा विचार कर लिया जाय। प्रयोगवाद का पर्यवसान नयी कविता' के रूप में हो गया है। प्रयोगवाद के शव की परीक्षा भी हो चुकी है लेकिन वही प्रयोगवाद 'नयी कविता' के रूप में विद्यमान है। अन्तर तो तथ्यों को लेकर आया है, अन्य सभी प्रयोगवादी विशेषताएं मूल रूप में 'नई कविता' मे विद्यमान है :—

(१) भाषा में अन्विति का अभाव है। गद्य की, लय की प्रचुरता है। 'अज्ञेय' ने इस बारे मे कहा है 'बाह्य अनुशासन हेय नहीं तो गौण मान लेने पर आन्तरिक अनुशासन को यह अधिक महत्व देता हूं।—इससे कविता पंक्तियाँ केवल खण्डित गद्य की पंक्तियां रह जाती हैं। अनुभूति का खरापन, उक्ति की प्रभावशीलता उनमें रहती है, पर कविता का सर्वाङ्ग सौन्दर्य उन्हें नहीं मिलता क्योंकि लय की बुनियादी मांगें वे पूरा नहीं करतीं।'—यह ठीक है कि 'यह दोष उस कविता मे बहुधा पाया जाता है जिसे नई कविता की अभिधा दी जा रही है।'

(२) नई कविता 'मैनरिज्म' (अभिव्यंजना रूढ़ि) से ग्रस्त है। एक रसता का उसमे प्रसार हो रहा है। डॉ० देवराज का कथन है 'नई कविता में जिस अनुपात से एकरसता बढ़ रही है, उसी अनुपात में नयापन कम हो रहा है।' अभिमन्यु, चक्रव्यूह, बौने आदि प्रतीक न रह कर अभिप्राय बन गये है, क्योंकि इनके अर्थ में विकास नहीं हो पाया है। पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति नई कविता के ह्रासशील होने को द्योतक है। शम्भूनाथसिंह ने इस बारे में कहा है—"घिसे-पिटे उपमानों और शब्द प्रयोगों को छोड़कर नये कवि ने जो नये उपमान, नये शब्द, नई भाषा, नया सगीत और नयी कथन भंगिमा अपनाई, परवर्ती कवि तोते की तरह उन्हीं को दुहराने लगे, और परवर्ती ही क्या, प्रारम्भिक मार्गदर्शी ही। प्रारम्भिक मार्गदर्शी कवियों में से भी कुछ ने चर्वितचर्वण करने में ही अपने कर्त्तव्य की इति श्री मान ली। इस तरह जब एक-लब्ध प्रतिष्ठ कवि अभिमन्यु द्वारा प्रयुक्त रथ के टूटे पहिये के प्रतीक को प्रतीक रूप से प्रयोग करता है तो फिर अन्य कवियों के लिये राम, कृष्ण अर्जुन, युधिष्ठर, द्रोणाचार्य, कर्ण (सूर्यपुत्र), अभिमन्यु, अश्वत्थामा, भीष्म, राधा, सीता, द्रोपदी, वृहनला आदि पौराणिक पात्र-प्रतीकों का धड़ल्ले से प्रयोग करने का मार्ग खुल जाता है। जब वह शरद चांदनी को अंजुरी भर पीने की बात करता है तो अन्य कवि धूप, किरण आदि को भी अंजुरी भर पीने लगते हैं। जब एक कवि 'आत्मा में भूंठ''माथे पर शर्म' और हाथों में टूटी तलवारों की मूठ', वाली पराजित पीढ़ी का गीत गाना शुरू करता है तो अन्य कवि भी 'हम नये छोटे लोग' 'हम सब बौने हैं', (हम लघु हैं, नगण्य हैं) आदि की ऐसी दादुर रट शुरू करते हैं, जिसे सुनने वाले के मन में इस तरह की कविताओं के प्रति वितृष्णा उत्पन्न होने लगती है। इस नई प्रकार कविता की भी अभिव्यंजना रूढ़ियां बनती जा रही हैं, जिसे फैशन या मैनरिज्म का रोग मानना होगा।

कहा जा चुका है कि इस तरह के बहुप्रयुक्त या घिसे-पिटे नामों के ढंग के प्रयोगों के अतिरिक्त समान या मिलते-जुलते शब्द-प्रयोगों की बहुलता भी बासीपन या अनुकृति का द्योतक है, जैसे जलपाखी, वनपाखी, अन्धा युग, अन्धी गली, अन्धी प्रतीक्षाओं, अन्धी पुतलियों, अन्धी आस्थाओं, दिगम्बर आस्थाओं, मुमुर्ष यातनाओं, मधुर पंछी, जिजीविषाओं, अंजुरी भर धूप, अंजुरी भर चांदनी, अंजुरी भर फूल, भटके जल पाखी, सन्दर्भ भटकी यात्राएं, धूल यात्रा, दिग्विजय का अश्व, चक्रव्यूह, कवच और कुण्डल का दान, अजन्मा दिन, अजन्मा बच्चा, मेरे प्रभु, मेरे परमेश्वर, ., कुण्ठा, अहम्, शंका पुत्र, शंका का वृक्ष, परिधि, केन्द्र, त्रिभुज,

चतुर्भुज, बिन्दु, वृत्त, मुट्ठी की बालू सा खिसकना, मर कर अन्धे प्रेत-सा भटकना आदि शब्द प्रयोगों की यह अनुकृति और आवृति प्रख्यात कवियों तक में मिलती है।

(३) नई कविता में आत्माभिव्यक्ति पर अधिक बल दिया जाने लगा है, जिससे दायरा संकुचित हो गया है।

(४) नये कवियों के पास मौलिक कथ्य बिलकुल नहीं है।

(५) नई कविता के प्रतिमान दोषपूर्ण, भ्रामक हैं। 'प्रयोग के लिये प्रयोग', 'लघु मानव', 'क्षण की अनुभूति', अहं की स्थापना में नये कवियों ने निरर्थक बौद्धिक कलाबाजियां की हैं। क्षण की अनुभूति ने कवियों की प्रतिभा को अल्पकालिक बना दिया है।

(६) नई कविता में विराट् वैयक्तिक व्यक्तित्वों का अभाव है। नई कविता ने दो-चार भी विराट व्यक्तित्व वाले कवि नहीं दिये हैं। 'प्रसाद' के बाद हिन्दी कविता में विराट व्यक्तित्व वाला कवि आया ही नहीं है। इससे सामूहिक व्यक्तित्व भी विराट नहीं हो पाया है।

(७) नई कविता आन्दोलन बन गई है जिसके संगठित तथा सामूहिक प्रयास से बहुत से अनपेक्षित, अयोग्य, प्रतिभाहीन कवि भी प्रसिद्धि प्राप्त कर रहे हैं। इस आन्दोलन के दो चार मठाधीश बन गये, जिनकी अन्धाधुन्ध कठमुल्लों ने नकल करनी शुरू कर दी। 'अज्ञेय' को छोड़कर कोई प्रतिभा-शाली नेता ही नहीं हुआ। बाकी रचनाओं में अनुकृति, आन्दोलन बोलने लगा, प्रतिभा नहीं।

(८) नई कविता में वक्तव्य अधिक दिये जा रहे हैं। कोई आत्मबोध, आत्म-कथन में तल्लीन है। कहीं शिक्षक की वाणी बोलती है, तो वैज्ञानिक दावे के नाम पर व्यंग किये जाते हैं। कमबर के टिफिन कैरियर में पाई गई महाभिनिष्क्रमण की गाथा गाई जाती है तो ईंट लेटर बॉक्स की टोकरी में पड़ा पत्र वक्तव्य देने लगता है। लावारिस लाश के सिरहाने पर रखा हुआ टेम्प्रेचर चार्ट भी वक्तव्य देने लग गया, तो, परचून की दुकान में प्राप्त डायरी का पृष्ठ क्यों न बोले। नया कवि, मैं कुत्ता हूं, लाश हूं, कलिनाग हूं, वमन हूं, आरज हूं, फेंका हुआ भ्रूण हूं, मरघट हूं, कहीं हूं, दर्द, पीड़ा, हे पिता, हे पुरंजन, ओ रे, ओ के माध्यम से उपलब्धियों को माप रहा है। अरे आदमियो तुम कुत्ता हो, लाश हो, आरज हो, [illegible] हो तो बेचारे पाठक को क्या लेना देना तुम क्यों उसकी खोपड़ी को खराब करने पर तुले हो? सीधे-सीधे क्यों नहीं लिख देते हो कि मैं कुत्ता इन परि-स्थितियों वश बना, भ्रूण इस कारण से बना।

।]

निष्कर्ष यह है नई कविता ह्रासोन्मुख रही है। सन् ४० के बाद से ही न्दी कविता ने क्या उपलब्धियां दीं, कित विराट व्यक्तियों को दिया? यदि इन श्नों पर सोचा जाय, तो सहज ही कहा जा सकता है कि उपलब्धियां प्रतिशामात्र । विराट् व्यक्तित्वों का पूर्णतया अभाव है।

नई कविता आन्दोलन के रूप में सफल रही है। परम्पराओं को तोड़कर ये मार्ग का अनुसंधान स्तुतनीय प्रयास है।

किन्तु नई कविता निष्प्राण नहीं है। 'तार सप्तक' के कवि 'दूसरा सप्तक' के वि अपने स्थान पर जमे रहे यद्यपि विकास की परम्परा में उनका अपना महत्व है। ामशेर बहादुरसिंह अपने साथियों को पीछे छोड़कर बहुत आगे बढ़ गये है। 'तीसरा सप्तक' में मदन वात्स्यायन, केदारसिंह का व्यक्तित्व प्रबल है। दोनों कवि नितान्त भिन्न मार्गों को अपनाये हुए बढ़ते जा रहे हैं। 'नई कविता' के अंकों में प्रकाशित कुछ कविताएं भी 'नई कविता' का सच्चा प्रतिनिधित्व करती हैं। अन्य नये कवियों में नरेश मेहता, शकुन्त, माथुर, भारती, गिरिजाकुमार माथुर, जगदीश गुप्त, कीर्ति चौधरी, रमासिंह, अनन्त कुमार पाषाण, अजितकुमार ने अच्छी कविताएं लिखी हैं।

इन दिनों 'नई कविता' मे एक प्रवृत्ति और दृष्टिगोचर हो रही है कि कवि आत्मालोचन में लगे हुए हैं। यदि 'नई कविता' को अधिक सुव्यवस्थित मार्ग पर चलाया जाय तो निश्चित रूप से हिन्दी काव्य में उसका विशिष्ट स्थान बना रह सकता है।

७

नई कविता की प्रेरक प्रवृतियां

प्रयोगवाद अथवा नई कविता, नये आयामों तथा नये क्षितिजों के निर्माण में सजग रही हैं। इसकी कतिपय प्रेरक प्रवृतियां इस प्रकार हैं :—

(१) नैराश्य और वेदना: —

नई कविता के प्रमुख आधार स्तम्भ है निराशा और अवसाद। गीतकारों मे यह नैराश्य प्रणय की असफलता के बाद दिखलाई पड़ता है, जब कि नई कविता का नैराश्य परिवेश जन्य है।

विगत युद्ध के कारण मानवमूल्य विघटित हुए। सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक संघर्ष तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता की मांग और शून्य हृदयों की चीखों और पुकारों ने नये कवि को निराशा और अवसाद के कुहरे से लपेट दिया। विवशता के बन्धन में बंधा कवि छटपटा रहा है। निराशा-जन्य अनुभूतियां ही उसके पास व्यक्त करने को शेष रही है। आज के कवि की आंखें दिन भर उदास रहती हैं। उसकी मुठ्ठी मे भिची हुई कविता की कापी के पन्ने मुड़ जाते हैं। उदासीनता की छाया, अवसाद की रेखा उसके मन पर छाई रहती है:—

> फैले हुए जंगल के झाड़ों की टोनों पर,
> दिन भर की दुःखी मेरी आंखों के कोनों पर
> सन्ध्या की किरणों की छाया सी पड़ती है।
> बैठा हूँ शान्त, दल चिड़ियों के उड़ते हैं,
> मुठ्ठी में भिंचे हैं पन्ने कविता की कापी के,
> बेचारे मुड़ते हैं। (भवानी प्रसाद मिश्र)

नये कवि को दुःख मिला है। वह जीवित रहते हुए भी अपने को मृतक समान मानता है: —

> सुख मिला
> उसे हम कह न सके।
> संस्पर्श बृहद् का उतरा सुरसरिता:

मेरा सारा जीवन नष्ट हो गया है, साधना नष्ट हो गई है। मेरे सामने सत्यों का दम घोटा है।

इन कवियों को शक्ति और क्षमता के झूठे गर्व में एकाकी होने के कारण गहरी पराजय हाथ लगी है, जिससे निराशा का अंधियारा पुंज उनके हृदय में गहराई तक उतर गया है, जिससे कवि यथार्थ के प्रति भीरु और कटु जगत के प्रति उदासीन हो जाता है। नये कवि के हृदय में पीड़ा और दर्द है:—

> अलग हूं, पर विरह की धमनी, तड़पती लिये
> स्पंदित स्नेह, श्री हृदय के आलोक
> मेरी वेदना के कोर। (अज्ञेय)

कवि की आंखों में दुःख का सागर लहरा रहा है। अश्रु से युक्त आंखों में एक के ऊपर एक लहरें उठ रही हैं:—

> यों मुझको देख मत
> नीर भरी आंखों में एक लहर टूटती,
> दर्द भरे सागर की लहर-लहर टूटती। (जगदीश गुप्त)

ये निराशा, वेदना, घुटन, कसक, मानव मूल्यों के विघटन और युग की विभीषिका के स्वर नये कवि में जीवन की विकट परिस्थितियों से आये हैं।

(२) आस्था और विश्वासः—

दशक में जहां एक ओर विषाद, निराशा, कुण्ठा, वेदना व्यक्त हुई है दूसरी ओर कतिपय नये कवियों का जीवन के प्रति आस्था और विश्वास प्रेम से पुष्ट तथा पोषित है, बाधा और उलझनों के क्षण में भी आशा का दीप जलाये सफलता के अभियान में पूरा विश्वास लिये हुये हैं।

एक नई कविता की कवयित्री को अभावजन्य वेदनाएं अधिक पीड़ित कर रही हैं; इसलिये वह स्वर्ण विहान की प्रतीक्षा में रत है:—

> आखिर तो
> बड़े गाभिन गन्धयुक्त गुच्छों सा
> आयेगा भविष्य कभी।
> करूंगी प्रतिक्षा अभी। (कीर्ति चौधरी)

कहीं से दबा-दबा सा स्वर उभरता है। लगता है निराशाजन्य भावनाओं, युद्ध की विभीषिकाओं, वेदना जन्य अनुभूतियों से आक्रान्त कवि यथार्थ के चित्रण के साथ स्वर्ग की ललक पाने को उत्कंठित हैं:—

> राग जाएं दिशाओं में बिखर,
> पथ हो जाय उज्ज्वल,

और उस पल
इस धारा पर स्वर्ग का गन्धर्व आए उतर
बस इतनी प्रतीक्षा मुझे भी है, तुम्हें भी है।

(अजित कुमार)

नये कवियों का विश्वास है कि उन्होंने जो अपने भुजबल से मार्ग प्रशस्त किया है, उसमें उन्होंने न जाने कितने संघर्षों, कटुता, विषमता, रिक्तता, घुटन आदि का सामना किया है:—

और क्योंकि हमने भुजबल से
अपना मार्ग प्रशस्त बनाया
दुखों से कर युद्ध
परिस्थितियों से लड़कर
और जूझ कर भारी से भारी अंधड़ से
अपना ऊँचा सिर न झुका कर
केवल मिथ्या आदर्शों से नहीं
नहीं कोरी रंगीन कल्पनाओं से
किन्तु जिन्दगी की मिठास का रस लेने को
हमने कटुता से खुलकर संघर्ष किया है।

(गिरिजाकुमार माथुर)

नये कवियो के स्वरो में वर्तमान के प्रति असतोष, आगत के प्रति शका होने से निराशा का जो प्रादुर्भाव हुआ है उसका निराकरण तथा पर्यवसान नई कविता के प्रवर्तकों द्वारा आस्था और विश्वास भरे शब्दों मे किया गया है:—

कहा तो सहज, पीछे लौट देखेंगे नहीं—
पर नकारो के सहारे कब चला जीवन ?
स्मरण को पाथेय बना दो,
कभी तो अनुभूति उमड़ेगी
प्लावन या सान्द्र भी घन बन। (अज्ञेय)

ऐसे आस्था और विश्वास के उभरे स्वरो को देखकर कहा जा सकता है कि निराशा और अवसाद की छाया सर्वत्र नहीं है, नया कवि उससे मुक्त होकर स्वर्णिम भविष्य की कल्पना कर रहा है।

(३) दुरूहता:—

नई कविता अनिवार्य रूप से ही नहीं, सैद्धान्तिक रूप से भी दुरूह है। इस

दुरूहता के कुछ कारण हैं: —

(१) साधारणीकरण का त्याग।

(२) उपचेतन मन के अनुभव खण्डों के यथावत् चित्रण का आग्रह।

(३) भाव तत्व और काव्यानुभूति के बीच रागात्मक के बजाय बुद्धिगत सम्बन्ध।

(४) काव्य के उपकरणों एवं भाषा के एकान्त वैयक्तिक और अनर्गल प्रयोग।

(५) नूतनता का सर्वग्राही मोह।

इनके अलावा और भी कारण हैं:—

(१) फ्रायड से प्रभावित होकर नये कवियों ने फ्री-एसोसियेशन या मुक्त चेतना प्रवाह में आस्था रख कर काव्य सर्जन किया है।

(२) फ्रान्स के प्रतीकवादियों से प्रभावित होकर संकेतमयी भाषा और रागात्मक पौर्वापर्य का प्रयोग किया है, यथा—

देखो
रूप-
नामहीन
एक ज्योति
अस्मिताद्वयता की
ज्वाला
अपराजित, अनावृता। (अज्ञेय)

(३) शब्दों में नये अर्थ भरने, उन्हें नई ताजगी देने तथा भाषा को नये मुहावरों से सज्जित करने की विविध प्रक्रियाएं, वे इलियट के काव्य से लाए हैं।

(४) भोगवाद:—

भोगवाद में भोग का सुखवाद निहित है। अतृप्त वासनाओं, यौन विकृतियों की तुष्टि ही सुखवाद होती है। प्रवृत्ति दुखवाद की द्योतक है। सुखवाद में मांसल शारीरिक, ऐन्द्रिक सुख को प्राप्त किया जाता है:—

फैल रही है परिधि स्तनों की
हसरतें अभी जवान हैं।
आओ दोस्तो और साथियों
आओ मेरे झण्डे के नीचे
उत्सव करें
नाचें, गाएँ,
रक्त की सेज पर। (कान्ता सिन्हा)

भोगवाद में सुख होता है कवि को। तभी नया कवि कविता में चुम्बन और आलिंगन को नहीं चूकता। अतृप्त वासनाओं को व्यक्त कर ही वह सुख पाता है:—

जिस दिन ये तुमने फूल बिखेरे माथे पर
अपने तुलसीदल पावन होठों से,
मैं सहज तुम्हारे गर्म वक्ष में शीश छुपा,
चिड़ियों के सहमे बच्चे-सा
हो गया मूक। (भारती)

(५) भदेस चित्रण

अज्ञेय का मूत्र-सिंचित मृत्तिका के वृत्त में तीन टांगों पर खड़ा धैर्यहीन गदहा, भदेस का अच्छा उदाहरण है। डॉ॰ राम विलास और केदार की कविताएं भदेस से युक्त हैं। नागार्जुन की यह कविता भी—

सरग था ऊपर
नीचे पाताल था
अपच के मारे बुरा हाल था
दिल दिमाग भुस का, खद्दर का खाल था।

"आज के जीवन में अनगढ़ और भदेस हमारे अधिक निकट हैं। इसलिये उसकी चेतना हमारे लिये अधिक वास्तविक और स्वाभाविक है।"

एक नये कवि ने भदेस प्रयोग के बारे में कहा है "विरूपता अश्लीलता नहीं है। असुन्दर भोंडापन नहीं है, परिवेश खोखला नहीं है—इन सबका सौन्दर्य पक्ष में महत्व है। ये सब सौन्दर्य को महत्वपूर्ण बनाते हैं।"

यह सत्य है कि सौन्दर्य बोध का एक पक्ष कोमलता और मार्दव है तो दूसरी ओर अनगढ़ और भदेस भी हैं। लेकिन सौन्दर्य को कुरूप बनाना भी श्रेयस्कर नहीं है। इससे सौन्दर्य बोध विकृत होता है।

आज का मनुष्य भदेस के कारण गर्भ में अपने देकर निकाला हुआ कापि-पुष है, तो दूसरी ओर भदेस का दूसरा विकृत रूप सामने आता है:—

त्वचा तनती गई। गर्भस्थ शिशु
बैलून की तरह फूलता चला गया। (राजेन्द्र किशोर)

आज के जीवन की यही मांग है, कवि उसी की पूर्ति कर रहा है।

(६) वैयक्तिकता

वैयक्तिकता ने अनास्था, निराशा, निवृत्ति, पीड़ा, घुटन को स्थान दिया है।

प्रयोगवाद में वैयक्तिकता ने विकृत या अहंकार का रूप धारण कर लिया। वैयक्तिक कुण्ठा, [illegible] स्वार्थ, [illegible] उन्मुक्तता और बौद्धिकता के प्रयोग ने मानवीय संवेदनाओं तथा अनुभूतियों को अन्तर्मुखी बना दिया है। प्रयोगवादी भाषा के वैयक्तिक प्रयोग, [illegible] उत्थान, शब्दों के नये प्रयोगों में इतना उलझ गया था कि रचनाएं भी घोर वैयक्तिक और समाजिक निरपेक्ष हो गई हैं। घुटी वैयक्तिक अभिव्यक्ति और सामाजिक निरपेक्षता ने कविता को विकासहीन कुहेलिका में निर्वासित कर दिया है :—

> मेरे मन की अंधियारी कोठरी में
> अतृप्त आकांक्षा की वेश्या बुरी तरह खांस रही है
> मैं गद्य की एक रस भन-भन से घबराता हूं
> जरा गीत गाकर देखूं–
> पास घर आये
> तो दिन भर का थका जिया मचल-मचल जाये।
>
> (अनन्तकुमार पाषाण)

छायावादी गीति काव्य भी वैयक्तिकता को लिये हुए था लेकिन संगीत के आवेष्ट में वह सामाजिक-सम्बन्ध के रूप में परिणित हो गया था। वे अनुभूतियां सार्वकालिक थीं, लेकिन प्रयोगवादी कविताएं प्रायः संगीतशून्य निरी अहंमता को लिये हुए हैं। सामाजिक तत्त्व का उनमें अभाव है। नया कवि बैठा-बैठा मक्खियां मारा करता है क्योंकि उसके पास कोई काम नहीं है। निरुद्देश्य बैठे-बैठे रेल के किनारे टीले पर बैठ कर घण्टों तितलियां उड़ाया करता है। ट्रेन गुजर जाती है, वह बैठा इंजन की सीटी दुहराता रहता है।

इसी वैयक्तिकता के कारण प्रयोगवादी काव्य अत्यन्त दुरूह हो गया है। अन्तर्जगत की पहेलियों में उलझा कवि स्वयं ही वर्ण्य वस्तु को समझ नहीं पा रहा है।

७. नूतनता का सर्वग्राही मोह

दशक की प्रयोगवादी रचनाओं में जो गहन अस्पष्टता, असंतुलन, वैचित्र्य मिलता है, उसके मूल में नूतनता का सर्वग्राही मोह ही है। इस प्रवृत्ति ने वैयक्तिक यथार्थ, दुरूहता, कल्पनात्मक अभिव्यक्तियों को प्रश्रय दिया है। प्रत्येक पंक्ति में वह प्रयोगगत तथा व्यंजनागत नवीन चमत्कार का अभ्युदय करना चाहता है। फलस्वरूप कल्पित, बेमेल, लयहीन कथ्य का ही सर्जन कर पाता है। नया कवि चाहता है कि वह जीवन के किसी भी पहलू, किसी भी पक्ष का दिग्दर्शन, किसी भी तथ्य

का उद्घाटन करे। मनोगत द्वन्द्वों और भावों को समझने के लिये उसके पास समय नहीं है।

नूतनता के नाम पर इन कवियों ने मनमानी भी की है :—

खोंखियाते हैं, किकियाते हैं, घुघ्याते हैं
चुल्लू में उल्लू हो जाते हैं
भिनभिनाते हैं, कुड़कुड़ाते हैं
सो जाते हैं, बैठे रहते हैं, बुत्ता दे जाते हैं
सभी लुजलुजे हैं, थुलथुल हैं लिब लिब हैं,
पिल पिल हैं
सबमें पोल है, सबमें झोल है, सभी लुजलुजे हैं।

(रघुवीर सहाय)

यदि चित्रोपम ध्वन्यात्मकता का समावेश न होता तो रोचकता समाप्त हो जाती। इस नवीनता की प्रवृत्ति ने विचित्रता और मनोखेपन का अजायबघर सा खोल दिया है :—

गोबर बंगला-मोटर हांके
दुनियां को फाके के फाके।
(जा मुंह धोकर आवे, बांके।)
जीवन की व्यस्त-पहेली
पढ़े फारसी भोजवा तेली
बेच रही गुरु को गुड़ चेली। (प्रभाकर माचवे)

यद्यपि कविता में व्यंग्य है फिर भी अनोखी अभिव्यक्ति है। वैचित्र्य का प्रादुर्भाव नूतनता के सर्वग्राही मोह से उत्पन्न हुआ है। कभी-कभी तो सन्देह होता है कि तथाकथित नये कवि अपनी रचनाओं को स्वयं समझ पाते हैं या नहीं।

अलसायें।
आये।
गये।
आई-
गई-
वे।
भी॥
मै-
ने-

ही-
देखा पेड़ ?—
भाड़ का।   (राजेन्द्र किशोर)

इस कवि ने नूतनता के आग्रह के कारण कविता को पहेली बना दिया है। कवि की दुरूहता, अस्पष्टता, क्लिष्टता की इति कहा जा सकता है।। कौन तन-ताये पाये ? कहां गये ? कौन आई ? कौन गई ? इसका पता तो इस कवि की दिमागी पिटारी में ही भरा है। इस नूतनता के सर्वग्राही मोह के कारण आज का कवि परिचित को छोड़ कर अपरिचित की ओर दौड़ रहा है।

८. यथार्थ चित्रण

नई कविता अतियथार्थवाद से प्रभावित है। यथार्थ ही आगे चलकर नग्नवाद के रूप में परिणित हो गया है। नया कवि दैनिक वास्तविकताओं का ही चित्रण करता है। प्लेटफार्म, चाय, होमबाल, वेटिंगरूम, होटल, सिगरेट, महगाई, फेशनेबर, पूड़ी का टुकड़ा, बाटा की चप्पल, स्टोव, कार, आदि को ही वर्ण्य वस्तु बना रहा है।

दैनिक वास्तविकता के त्रास में कवि कितना उलझ रहा है कि सूप की फटर-फटर में, अम्मा-पापा की पुकार में एक ही आवाज ध्वनित हो रही है। "कविता से विमुख हो और थैला उठाकर तरकारी लाओ। ऑफिस का समय हो गया है, इसलिये स्नान कर, भोजन की तैयारी करो।" आज का कवि इस दैनिक कार्यकलाप को बन्धन और नीरस मानता है। वह इस दमन चक्र, व्यवधान, शुष्क जीवन, से मुक्त होना चाहता है। मन की भावना की अभिव्यक्ति शब्दों से मुखरित हो जाती है। करे भी क्या ? वह विवश है। यन्त्रवत् जीवन का वह अभिन्न अङ्ग है, विषाद की कालिमा उसे घेरे रहती है:—

मुझसे अच्छी तुम हो
सूप उठा तुमने सब चावल फटक डाले,
मुझसे अच्छा यह है—
डब्बा फाड़ जिसने सब विस्कुट गटक डाले,
सूप की फटर फटर
अम्मा-पापा की रट
मुझसे कहती है—
जीवन ले, कविता से हट,
थैला उठाओ, जाओ—
तरकारी लाओ

ग्राफिस का समय हो गया है
महात्मा, खामो। (सर्वेश्वर दयाल सक्सेना)

क्लर्क का जीवन चेतना शून्य है। जीवित रहते हुए भी वह मृत है। पत्नी भी उस जीवन का अभिन्न अङ्ग है। उसे रसोई, बच्चों की देखभाल का कार्य करना पड़ता है। प्राये साल पेट में नया जीव पलता रहता है। क्लर्क के पास वस्त्रों का प्रभाव है। उसका कोट फटा है जिसे उसकी पत्नी ने सिया है। यह है मध्यमवर्गीय परिवार की निम्न श्रेणी का चित्रण, जिसमे ग्रभावग्रस्त क्लर्क का जीवन पल रहा है। वह कहने भर को जिन्दा है :—

दिन मर गया है, मैं भी मर गया हूं।
हींग ग्रौर हल्दी से वासित मेरी बीबी मगर ग्रभी जिन्दा है
ग्रौर उसके पेट में कुछ ग्रौर नयी जिन्दगी है,
मेरा कोट फटा है उसने ही सिया है। (ग्रनन्त कुमार पाषाण)

ग्राज के मानव को मस्ती क्या छूटती है कि रसातल का दरवाजा खोल जाती है। प्राये दिन फाकामस्ती करनी पड़ती है। तांगे वालों की विद्रूप गालियों की बौछारों मे, प्याज की पकौड़ी ग्रौर मदिरा की प्याली मे वह जीवन को पी रहा है। हो सकता है जीवन ही उसे पी रहा हो :—

सामने होली खड़ी है
एक बोतल एक प्याली
प्याज की पकौड़ी
इक्के तांगे वालों की गली
.... मस्ती
.... फाकामस्ती
कमीज़ के बटन
बटन होल के बाहर जो
दांत निकाले से पड़े हैं
उन्हें समेट लो
ग्रास्तीन के कालर
कोट की सीमा से बाहर-मत जाने दो। (श्रीकान्त वर्मा)

इस तरह यथार्थ चित्रण में सामाजिक व्यंग विद्रूपताओं को प्रमुख स्थान प्राप्त हुग्रा है, यद्यपि चित्रणों मे प्रेषणीयता का किंचित ग्रभाव है।

यथार्थ मे सामाजिक व्यंग्यो की भी प्रधानता रही है। गिरिजाकुमार माथुर, प्रभाकर माचवे, ग्रज्ञेय, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, भारतभूषण ग्रग्रवाल, मदन वात्स्यायन के व्यंग्य सशक्त हैं। एक उदाहरण लीजिये—

अरे ओ अफसर
ब्रह्मा का लिखा मिट सकता है
कल का अछूत आज मंत्री हो सकता है।
पर तुम्हारी लाइन का भार लिये मैं
कहां जाऊं, कहां भागूं ?
काश्मीर से कन्याकुमारी तक के
किस दफ्तर में जा छिपूं ?
तुम अफसर हो
"राखि को सके राम कर द्रोही"

* *

तुम सरकारी अफसर हो,
तुम्हारा काटा पानी नहीं मांगता
कानून की दरार में से तुमने गोली चलाई,
और मुझे चुपचाप सुला दिया
अपने फाइलों को जंगल में ले जाकर
तुमने कत्ल कर दिया। (मदन वात्स्यायन)

भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे ने तुक्तक नाम के व्यंग्यों का पिटारा खोल दिया है। प्रभाकर माचवे की 'पालना' नामक कविता की कुछ पंक्तियां देखिए—

पहले उसने कुछ पाले पिल्ले
बड़े हुए, भाग गये।
पाली कुछ बिल्लियां, वे
दोस्त कुछ मांग गये।
पाली लाल मछलियां वे मर गयीं।
पाली एक मैना, जो उड़ गई।
एक तोते की जोड़ी जो पाली,
उठा ले गई दोस्त पड़ोसन बिडाली।
पालने की यह आदत कम न हुई
सुना है कि आजकल पाले हैं कुछ आदमी
पालतू।
फालतू।।
होगा क्या उनका ? पड़ोसी के बड़े बम
मार देंगे उनको-फिर भी नहीं होंगे कम। (प्रभाकर माचवे)

इस प्रकार नई कविता में यथार्थ के साथ व्यंग्यपूर्ण शैली को पूर्ण रूप से अपनाया गया है। अज्ञेय के 'बावरा अहेरी' में संकलित 'सांप' शीर्षक कविता में सामाजिक व्यंग्य बहुत ही गहरा उतरा है। कुल मिलाकर पिछला दशक विभिन्न प्रवृत्तियों की दृष्टि से समृद्ध रहा है। नई कविता के कर्णधार दिग्भ्रमित रहे हैं। छायावादी युग से दशक के अतिमांश तक ऐसा कोई भी प्रतिभाशाली कवि नहीं हुआ जो विश्व साहित्य में स्थान बना सके।

८

अभिव्यक्ति के उपादान

काव्य में अभिव्यक्ति के उपादान समय-समय पर परिवर्तित होते रहते हैं। द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक कविता में भाषा, छन्द, प्रतीक आदि पूर्ववर्ती काव्य से प्रभावित थे। छायावाद में सब कुछ परिवर्तित हो गया। अभिनव प्रतीक, नये बिम्ब भाषा की कोमल कान्त पदावली प्रयुक्त होने लगी। पिछले दशक के अभिव्यक्ति के उपादानों को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है।

१. बिम्ब विधान
२. प्रतीक विधान
३. छन्द विधान
४. भाषा और शब्द विधान

१. बिम्ब विधान

बिम्ब विधान का तात्पर्य सौन्दर्यानुसन्धायिनी प्रवृत्ति से है। इसमें कल्पना-प्रतिमाओं, स्मृति जन्य पूर्व अनुभूतियों, प्रस्तुत परिवेश के संवेदनों और कभी-कभी अस्तित्व न रखने वाली घटनाओं की प्रमुखता होती है।

बिम्ब दो प्रकार के होते हैं :—

१. स्मृति जन्य, २. स्वरचित।

स्मृति जन्य मे पूर्वगामी अनुभूति का पुनरुत्पाद मात्र होता है। स्वरचित में कवि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा दृष्टि, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श आदि के सजीव, रोचक तथा नूतन बिम्ब प्रस्तुत करता है।

बिम्बों का वर्गीकरण विषयानुसार भी होता है :—

१. प्रकृति बिम्ब
२. पुरातन बिम्ब (पौराणिक बिम्ब)
३. कलात्मक बिम्ब
४. तकनीकी बिम्ब
५. कार्यकलाप सम्बन्धी बिम्ब

कवि ने प्रेरणा, उद्वेलन, मानस का आलोड़न-विलोड़न प्रकृति से ही प्राप्त
त्या है। प्रकृति वर्णन भी काव्य का चिरन्तन सत्य रहा है। नया कवि भी प्रकृति
विमुख नहीं हुआ। हवा सुन्दर वल्लरी का वेश धारण कर आई है। वह प्रिया है।
वि नीम के वृक्ष के रूप में उसका प्रियतम है। दूसरी बार जब-जब हवा आयी
व हंसनि का वेश था। वह आकर प्रियतम रूपी झील के कूल पर तैरती रही :—

हवा आयी
खूबसूरत वल्लरी के वेश में
और मेरी देह से लिपटी रही,
वह प्रिया है, पेड़ मैं हूं नीम का
प्रमुदित हुआ।

हवा आयी
यौवनातुर हंसनी के वेश में
और मुझमें तंरती चलती रही,
वह प्रिया है, तीर मैं हूं झील का
पुलकित हुआ। (केदारनाथ अग्रवाल)

भोर गंवार नारी है जिसके चेहरे पर सिंदूर ढल-ढल कर फैल गया है।
ली बार श्रृंगार करने पर उसकी सखियां खिलखिला उठीं। प्रियतम (सूर्य) ने
छे से आकर उसके माथे पर चांदी की बिंदिया चिपका दी। लज्जा से आरक्त मुख
लियों में छिपा कर भोर भाग गई :—

नदियों के जल में,
गिरि तरु के शिखरों से ढर ढर कर
सब सेंदूर फैल गया।
प्रथम बार—
इस गंवारि नारि के श्रृङ्गार पर
कोटर-कोटर से छिप झांकती
सखियां खिल खिला उठीं,
पीछे से आ पिय ने
चुपके से हाथ बढ़ा
माथे पर चांदी की बिंदिया चिपका दी
लज्जा से लाल मुख
हथेलियों में छिपा

मोर मट भाग
चोट हो गई
माथे से दूर
गिरी नहीं
अग पड़ी रही। (सर्वेश्वर दयाल सक्सेना)

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की बिम्ब रचना शक्ति उर्वर है। मोर और मंजरी के माध्यम से अनुभावों, संचारी आदि का चित्रण सफल हुआ है। केदारनाथ अग्रवाल की 'हवा में बसन्ती से परिवेष्टित चिलबिल वृक्ष को जो प्रमोद की अनुभूति होती है, वैसे ही हवा के आगमन पर कवि मानस की अनुभूति हुई।

बिम्ब का निर्माण, कवि की सर्जनाशक्ति, कल्पना, अनुभूति, अभिव्यक्ति की क्षमता तथा व्यक्तित्व पर निर्भर होता है। परम्परा की रूढ़ियों को तोड़ने में नया कवि प्रयत्नशील है। चांद, मुख का उपमान है। लेकिन नया कवि उसे कटी हुई पतंग के माध्यम से बिम्बित करता है :—

चांद कटे पतंग-सा
दूर उस झुरमुट के
पीछे *गिरता जाता*—
किलकारी भर-भर खग
दौड़-दौड़ कर अम्बर में
किरण डोर लूट रहे। (कुँवर नारायण)

प्रातः का चांद सूर्य के भय से कटकर झुरमुट के पीछे गिर जाता है। उसे कटा जान कर खग रूपी शिशु किलकारी भर कर किरण रूपी डोर को लूटते रहते हैं। दोनों में भावों का तदात्म्य है, एक रूपता है। लेकिन बिम्ब विधान में चमत्कार और सौन्दर्य का अभाव है।

अनेक स्थलों पर प्रकृति विधानों में रसात्मकता परिलक्षित होती है। इसे रसज्ञता तो नहीं, मानसिक परिरमण कहा जा सकता है :—

पूर्णमासी रात भर
पीती रही सुधा
अंक के शशि में लिपट कर
धोती रही श्यामल बदन
सुधि बुधि बिसार। (शकुन्त माथुर)

शि' ने पूर्णमासी रात को सुधा पिलायी। अचेतन अवस्था में शशि की
、स्पर्श सुख से श्यामल मुख को उज्ज्वल बनाती रही।

इस दशक का नया कवि मयंक, निर्झर, जलज, ज्योत्स्ना, रवि, हारसिंगार, र, मृग आदि की अपेक्षा गधा, कुत्ता, बिल्ली, चूहा, घोड़ा, सड़क, लालटेन, ीग, मूत्र आदि पर अधिक निगाह डालने लगा है। नये-नये बिम्बों की दुहाई जाती है। लेकिन ये नवोपलब्धियां काव्य जिज्ञासु को संतृप्तिकारी नहीं होती हैं।

धान के खेतों की तरह मन की राह गीली हो गई है, उसमें लौट कर गये यतम के पैरों की छाप बन गई है। प्राणों का दर्द नेत्रों में झलक आया है ससे पानी छाप में निथर गया है:—

धानों के खेतों सी गीली
मन में जो यह राह गई है,
उस पर से लौट आये प्रीतम के
पैरों की छाप नई है।
प्राणों का दर्द अंखियन में उठ छाया,
पांवों की छापों में जल जो निथराया। (ठाकुरप्रसाद सिंह)

प्रकृति बिम्बों में ध्वनि विधान का प्रमुख स्थान होता है। नाद-सौन्दर्य की व्यञ्जना से लय और गति की छटा प्रदर्शित होती है :—

चल रहे हाथी
खनकती चूड़ियां, पांजेब
खेतों में कृषक के नव वधु की
* *
हड़हड़ाते ताड़ के पत्ते पवन की ओट से
बीन को झंकार, मीरा पान कर
मजदूर ढोलक झांझ पर है
गा रहे वेताल मारू-राग (मारसीप्रसाद सिंह)

हाथियों के चलने में और पांजेब तथा चूड़ियों के खनकने में लय साम्य है, लेकिन नाद-सौन्दर्य भिन्न-भिन्न है।

कहीं-कहीं बिम्ब विधान संवेदना की सम्प्रेषणीयता में वृद्धि करने में पूर्ण सफल हुए हैं, इनमें सूक्ष्म से विराट की ओर, मूर्त से अमूर्त की ओर जाने की प्रवृत्ति दिखाई देती है: —

बूंद टपकी एक नभ से
किसी ने झुक कर झरोखे से
कि जैसे हंस दिया हो,
हंस रही सी आंख ने जैसे
'किसी को कस दिया हो। (भवानीप्रसाद मिश्र)

नभ से बूंद का टपकना, झरोखे से झुक कर हंसना बराबर है। हर्ष में आंसू आते हैं। जिस तरह हंसी सुनकर झरोखे की ओर दृष्टि उठ जाती है उसी प्रकार बूंद के टपकने से आकाश की ओर दृष्टि उठ जाती है। यहां अनुभूति की गहनता है, साथ ही सूक्ष्म दृष्टि की व्यञ्जना भी। किसी का मुस्कहास बन्धन में आबद्ध कर देता है उसी प्रकार आकाश अपनी गरिमा से मानव को उस असीम के बन्धन में बांध देता है।

लेकिन कहीं-कहीं इनमें ऐसी विकृति आई है कि कवि का कथ्य असंगत ही नहीं होता अपितु बिम्ब विधान खण्डित हो जाता है:—

मस्तक इतना खाली–खाली
लगता जैसे
हो कोई सड़ा नारियल। (धर्मवीर भारती)

सड़ा हुआ नारियल दुर्गन्धि का बोध करता है। इससे मस्तिष्क की शून्यता से कोई सम्बन्ध नहीं होता। ऐसी ही कविताओं को देख कर दिनकर ने कहा है– 'कोलाहल तो बड़े जोर का है और लगता भी ऐसा ही है कि लड़के अपने पुरखों के कलात्मक असबाबों को तोड़-फोड़ कर ही दम लेंगे।'

(रामधारी सिंह दिनकर)

यह विकृति सर्वत्र नहीं है। कवि के मानस में छिपे कोमल भाव, सूक्ष्म सौन्दर्य की गहनता भी बिम्बों के माध्यम से प्रकट हुई है: —

दूर तक फैली हुई मासूम धरती को
सुहागिन गोद में सोये हुए नवजात शिशु के नेत्र-सी
इस शान्त नीली झील के तट पर, चल रहा हूँ मैं।
(धर्मवीर भारती)

२. पौराणिक बिम्ब

पौराणिक बिम्बों में पुरातन जनश्रुतियों, कथानकों को आधार बना कर बिम्ब विधान प्रस्तुत किया जाता है। इन बिम्बों में राधा–कृष्ण के बिम्ब मुख्यतया प्रस्तुत किये गये हैं। पौराणिक बिम्बों में भी विकृति का समावेश हुआ है। कवि एक ओर चुम्बन बनाता है, दूसरी ओर भागवत् के पृष्ठ पर रखी हुई बांसुरी से उसका बिम्बीकरण करता है। रीतिकाल के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत बिम्बों से इन बिम्बों की तुलना नहीं हो सकती क्योंकि सौन्दर्य बोध, भाव बोध तथा मूल्यों में बहुत अन्तर आ गया है:—

रख दिये तुमने नजर में बादलों को साध कर,
आज माथे पर सरल संगीत से निर्मित अधर,

आरती के दीपकों की झिलमिलाती छांह में
बांसुरी रखी हुई ज्यों भागवत के पृष्ठ पर।

(धर्मवीर भारती)

३. कलात्मक बिम्ब

कलात्मक बिम्बों में किसी मूर्त या अमूर्त वस्तु के आधार पर भाव व्यञ्जना की जाती है। अर्थ गर्भत्व भी उसमें निहित होता है। प्यार निस्सीम है। गगन सा अनन्त है। ताजमहल के बिम्ब द्वारा इसको व्यक्त करते हुए कवि ने प्रेम की परिधि को निस्सीम बना दिया है:—

सामने रखा है ताजमहल
प्लास्टिक का खूबसूरत।
मीनारें जिसकी लघुता में अब भी
ताकती है आसमान
निर्देश करती हैं,
प्यार बन्दी नहीं है परिधि का
निस्सीम उसे रहने दो
गगन सा, अनन्त सा।

(मनुरंजनप्रसाद सिंह)

४. तकनीकी बिम्ब

तकनीकी बिम्बों में तकनीकी शब्दावली को प्रयुक्त किया जाता है उसी के माध्यम से भावों की व्यञ्जना की जाती है। यह साधारणीकरण विरोधी प्रवृत्ति का ही स्थूल रूप है। सम्भवतया इस प्रकार के बिम्बों में 'अज्ञेय' का यह कथन प्रेरक रहा है कि "साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियां रूढ़ हो गई हैं। अतएव यह भाषा की क्रमशः संकुचित होती हुई केंचुल फाड़ कर उसमें नया, अधिक व्यापक और सारगर्भित अर्थ भरना चाहता है।" इसलिये वैज्ञानिक तथा तकनीकी बिम्बों के लिये वैसी शब्दावली प्रयुक्त करता है। इससे शब्दों का विचित्र तथा अनर्गल प्रयोग हो जाता है। अप्रस्तुत विधान भी असाधारण रूप धारण कर लेता है।

इन बिम्बों में मूर्त में अमूर्त का ही विधान होता है। दुरुहता, भावों की संकुलता, विचित्र प्रयोग इन बिम्बों की विशेषताएं हैं। रेखागणित के चिन्हों द्वारा भी मनोभावों का आत्मनिरीक्षण करने का प्रयास किया गया है:—

मैं नहीं हूं
यह त्रिभुज, यह चतुर्भुज, यह वृत्त—
त्रिविध अथवा विविध
रेखा पराजित मैं एक भी आकार

सुन्दर, स्पष्ट-
किन्तु सीमा-बद्ध
स्वयमाबद्ध ।   (प्रयागनारायण त्रिपाठी)

५. कार्यकलाप सम्बन्धी बिम्ब

दैनिक कार्यकलाप सम्बन्धी बिम्ब इसके अन्तर्गत आते हैं । पौराणिक प्रकृति, तकनीकी, कलात्मक बिम्बों को छोड़कर अन्य सभी प्रकार के बिम्बों का समाहार इसके अन्तर्गत होता है । इनमें दो अर्थ वाले बिम्ब अधिक पुष्ट हैं:—

पति सेवा रत साँझ
उचकता देख पराया चाँद
लजा कर ओट हो गई ।   (अज्ञेय)

पतिव्रता नारी पर पुरुष को झाँकते देखकर ओट में हो जाती है । साँझ भी पर पुरुष चाँद को देखकर ओट में हो गई ।

धूप जरा खुली कि चारों तरफ हलचल मच गई । कोठे पर चढ़ कर मजूर मुंगरी बजाने लगे । ढोलक के स्वर के साथ मुन्नी ने आवाज लगाई 'मां दूध पिला ।' बहुएं कपड़ों को सुखाती हुई ऊंचे आसमान की ओर झांक लेती थीं । नीचे बुढ़िया घर के दुखड़ों को गा रही थी । क्वारियां काली चूड़ियों के टुकड़े बीन रही थी, पर पता नहीं पड़ोस के किशोर की आंखें क्यों डबडबाई ?

धूप खुली जरा-सी
हल चल मची
कोठे मजूर चढ़े
मुंगरी बजी ।
दूर कहीं ढोलक के स्वर से
स्वर मिला-
रोई मुन्नी : ओ मां
दूध – आ पिला ।
*
देखकर जाने क्यों-
पड़ोस के किशोर की
आंख डबडबाई ।
ठंडी, नम हवा कौन सी सुधियां लाई ?   (अजित कुमार)

कहीं-कहीं वर्ण्य विषयों से सम्बन्धित बिम्बों की लड़ी सी लगा दी जाती है । अनेक उपमानों को इन बिम्ब मालाओं के लिये प्रयुक्त किया जाता है ।

लेकिन इन बिम्बों के आधार पर वीभत्स, कुरूप चित्र भी खींचे गये हैं, अनेक बिम्ब खण्डित हैं। काव्यगत सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में खटकने वाले भी हैं। असंगति सर्वत्र मिलती है। फिर भी उनमें मौलिकता है, नवीनता है।

(२) प्रतीक विधान

काव्य में प्रतीकों का प्रयोग काव्य रचना की अन्तःप्रेरणा से सम्बन्धित होता है। इस विधान में कवि की वैयक्तिक अनुभूतियाँ और सामाजिकता के जटिल सन्दर्भ परस्पर अन्तः प्रक्रिया करते हैं।

प्रतीक भावों की गहनतम अभिव्यक्ति के साधन हैं, जिनके माध्यम से अमूर्त, अदृश्य, अश्रव्य, अप्रस्तुत विषय का प्रतिविधान मूर्त, दृश्य श्रव्य, प्रस्तुत द्वारा किया जाता है। प्रतीक, मानव परिवेष्टन में दृष्टिगत वस्तु का मानव प्रतिमा के साथ तादात्म्य कर देता है। कल्पना के पुट द्वारा उसका आदर्शमय स्वरूप प्रस्तुत कर कला का सृजन करता है। ऐसे अप्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय विषयों की सर्जना लक्षणा शक्ति के आधार पर साकार हो उठती है। वर्ण्य वस्तु गौण, ग्राह्य अर्थ प्रमुख हो जाता है। इस प्रकार के विश्लेषण दो प्रकार के होते हैं।

१. आत्मा एव परमात्मा सम्बन्धी,

२. अचेतन या अवचेतन सम्बन्धी।

इन विश्लेषणों में प्रेषणीयता, बोधगम्यता लाने के लिये अलंकारिक भाषा को प्रयुक्त किया जाता है।

प्रतीकीकरण मानव का सहज स्वभाव है। इसके द्वारा किसी मध्यस्थ प्रकार के माध्यम को प्रतिनिधि बनाया जा सकता है, दूसरे इससे शक्ति भी घनीभूत हो जाती है। प्रतीकों को दो भागों में वर्गीकृत किया जाता है।[1]

१. सन्दर्भीय

इसमें वाणी और लिपि से व्यक्त शब्द, राष्ट्रीय पताकाएं, तारों से परिवहन में प्रयुक्त होने वाली संहिता तथा रसायनिक तत्वों के चिन्ह आते हैं।

२. सम्घनित

धार्मिक कृत्यों में, स्वप्न तथा अन्य मनोवैज्ञानिक विवशताओं जन्य प्रक्रियाओं मिलते हैं।

कुछ ऐसे प्रतीक होते हैं जो सार्वभौम माने गये हैं जैसे लाल रंग अनुराग का, श्वेत-रंग पवित्रता का, पीत-रंग शान्ति का, सिंह वीरता का, शृंगाल कायरता

---

१. हिन्दी साहित्य कोश धीरेन्द्र वर्मा आदि, पृ० ४७२।

का, लोमड़ी चतुरता की। कबीलों, जातियों, समाजों और राष्ट्रों के अपने-अपने प्रतीक होते हैं।

भारतीय काव्य में प्रतीक विधान ऋग्वेद से ही प्रारम्भ हो जाता है। उपनिषदकाल से रीतिकाल तक प्रतीकों की शृङ्खला चली आई है। आधुनिक काल में छायावाद, रहस्यवाद के पश्चात् प्रतीकों का बाहुल्य चला आ रहा है। सामान्यतया प्रतीक एकगुणी होते हैं। चित्रात्मकता इनमें हो भी सकती है, नहीं भी। दूसरी ओर बिम्ब इसके विपरीत होते हैं, उनमें क्षितिज व्यापक और चित्रमय होता है।

वर्ण्यवस्तु के आधार पर दशक के प्रतीकों का विभाजन हो सकता है :—

१. प्रकृति के प्रतीक
२. पौराणिक प्रतीक
३. तकनीकी प्रतीक
४. यौन प्रतीक
५. जीवनचर्या प्रतीक

१. प्रकृति के प्रतीक

प्रकृति कवि को आलम्बन भी है, उद्दीपन भी। युगान्तर से प्रकृति ने कवि के मनोभावों को प्रभावित कर विभिन्न स्रोतों मे बहाया। 'अज्ञेय' ने ही प्रतीकों को नई कविता में प्रयुक्त किया। इन प्रतीकों पर फ्रेंच के प्रतीकवादियों का प्रभाव था। 'अज्ञेय' का 'बावरा अहेरी' सूर्य का प्रतीक है। प्रतीकों के विधान में अज्ञेय सिद्धहस्त है :—

भोर का बावरा अहेरी
पहले बिछाता है आलोक की
लाल लाल कनियां
पर जब खींचता है जाल को
बांध लेता है सभी को साथ :
छोटी-छोटी चिड़ियां
मझोले परेवे
बड़े-बड़े पंखी
डैनों-वाले डील वाले
डौल के बेडौल
उड़ते जहाज।

(अज्ञेय, बावरा अहेरी)

नये कवि ने प्रकृति में वीभत्स के भी दर्शन

सतह पर चाँदनी रात चितकबरी मालूम पड़ती है। चितकबरी वस्तुओं में कुत्ता, बिल्ली, सांप आदि भी होते हैं। चितकबरी रात मन का प्रतीक है। कपालों में घसा हुआ मनहूस अंधियारा मन का दर्द है। इस कुरूपता को प्रदर्शित करने के लिये कवि को ये ही प्रतीक मिले हैं।

> चाँदनी सित रात चितकबरी
> उसे भूखण्ड की गंजी सतह पर
> खोह से खंडहर, कपालों में बसा ज्यों रेंगता मनहूस अंधियारा।
>
> (कुँवर नारायण)

प्रकृति के सुखद उपादान प्रतीक कथा के चित्रण में कितने सार्थक हुए हैं; यह रमासिंह की प्रतीक कथा से स्पष्ट है:—

> बादल के किसी एक टुकड़े ने
> छोटे से आंगन को छाया दी,
> चढ़े हुए सूरज की गर्मी सब
> अपने ही ऊपर ली,
> किरनें वे क्या थी, बस
> तपे हुए लोहे की गरम सलाखें थी,
> छू-छू कर जिन्हें हुई पुरनम
> उस बादल की आंखें थी।
>
> (कुं० रमासिंह)

बादल त्यागशील व्यक्ति का प्रतीक है, आंगन उसके द्वारा कृपाकांक्षी का। जगत् की आपदाएं ही तपे हुये लोहे की गर्म सलाखें हैं जिनके आघातों से त्यागशील व्यक्ति भी द्रवित हो गया है।

२. पौराणिक प्रतीक

पूर्ववर्ती काव्य युग में पौराणिक प्रतीकों का अभाव मिलता है। इन प्रतीकों में पौराणिक आख्यानों, गाथाओं, चरित्रों के साथ युग की पूर्ण परिवेश की जटिल संवेदनाओं से संग्रथित किया जाता है। इन प्रतीकों में कवि की संवेदनशक्ति की माप होती है।

नई कविता में पौराणिक प्रतीक में कवि-व्यक्तित्व की अन्तःप्रेरणा दो रूपों में अभिव्यक्त हुई है :—

१. वर्तमान मूल्य संकट की स्वीकृति के लिये।
२. इस वस्तुस्थिति के सम्भावना पक्ष को संकेतित करने के लिये।

इन पौराणिक प्रतीकों में व्यंग्य विपर्यय और खलबली मचा देने वाली सरयता

निर्भीक स्वर में व्यक्त होती है :—

अब किसी बियाबान वन में जटायु…… ?
… नहीं । वायुयान में बिठा कर ले जायेगा "।
अव्वल तो जटायू नहीं कोई
और हो भी तो
मशीन से कब तक लड़ पायेगा ?
… राम युद्ध ठानेंगे ?
वानरों को सेना ले……?
जो कि आजकल अपने नगर में मुंडेरों पर
रोटी ले भागने की फिक्र मे बैठो है ।
राम स्वयं आहत है । (दुष्यन्त कुमार)

भौतिक सुख और शान्ति के सम्बन्ध को प्रतीक के माध्यम से पौराणिकता का पुट दिया गया है । मनुष्य का हृदय सुख रूपी कंचन मृग के स्वर्ण-चर्म पाने के प्रलोभन में शिकारी की तरह पीछे पड़ता है । स्वर्ण मृग का कार्य ही छलना, छलाना है । इसी से शान्ति रूपी पत्नी का अपहरण हो जाता है जिससे विषम विकलता बढ़ जाती है :—

सुख का यह कंचन मृग
छलता है, छलाता है ।
मन का यह धनुर्धर यह–
हाथ ले कुटिल कमान,
तनी डोर पर
धरे नुकीले बान
पीछे-पीछे उसके ही चलता है, चलता है
चमकीला स्वर्ण-चर्म पाने को मचलता है ।
मन ने जब पीछा किया
उस मृग छौने का,
होने का क्षण था वह
कुछ अनहोने का
तभी – तभी
शांति सहचरी हरी गई,
तभी से समाई
यह विषम विकलता है

सुख का यह कंचन-मृग
छलता है छलाता है। (कुं० रमासिंह)

विषम विकलता में वृद्धि मानव मूल्यों के विघटन से हुई है। इसलिये वह (नया कवि) कभी 'निहत्था अभिमन्यु' हो जाता है, तो कभी 'गर्भ से धक्के देकर निकाले गये ऋषिपुत्र' जैसा प्रतीत होता है तो कभी 'छला हुआ एकलव्य' प्रतीत होता है। लेकिन प्रत्येक आघात नये कवि को कटिबद्ध कर देता है।

मेरे ही लिए यह व्यूह घरा
मुझे हर आघात सहना
गर्भ-निश्चित में नया अभिमन्यु पैतृक युद्ध।
(कुंवर नारायणसिंह)

पौराणिक प्रतीकों में सम्पूर्ण जटिल सामाजिक परिवेश की दुखान्त सवेदनाओं का समाहार होता है। सामाजिक विसंगति से उत्पन्न क्षोभ, निराशा, कुण्ठा, दैन्य, व्यथा आदि हास्य-व्यंग्य के रूप में अभिव्यक्त हुए हैं जो संवेदना, की गहराई को छूते हैं तथा अर्थबोध और भावबोध के नये आयामों को स्थापित करते हैं:—

कल रात मैंने एक स्वप्न देखा
मैंने देखा कि मेनका अस्पताल में नर्स हो गई है
और विश्वामित्र ट्यूशन पढ़ा रहे हैं
–उर्वशी ने डान्स-स्कूल खोल दिया है
नारद गिटार सिखा रहे हैं
गणेश बिस्कुट खा रहे हैं
और
वृहस्पति अंग्रेजी से अनुवाद कर रहे हैं।
(भारत भूषण अग्रवाल)

इस प्रकार मानवीय अनास्था, अन्तर्द्वन्द्वों, विकृतियों, कुण्ठाओं से युक्त अनेक पौराणिक पात्र प्रतीक रूप में सामने आये हैं। नया कवि प्रतीक के आयाम बढ़ाने में लगा हुआ है। लेकिन वह पौराणिक पात्रों तथा कथाओं को व्यंग्य विपर्यय तक अपने को सीमित रख कर भावबोध, सौन्दर्यबोध और अर्थबोध के आयाम वह स्थापित नहीं कर सकेगा।

३. तकनीकी या वैज्ञानिक प्रतीक

विज्ञान का समाहार दिन-प्रतिदिन वृद्धि करता जा रहा है। मानव जीवन उससे असम्पृक्त है। शम्भूनाथसिंह का कुञ्जी रहित ताला अथाह और विरहित

का सूचक है। बांध, अवरोध है, यन्त्र चालक प्रेरणा और प्रेरक शक्ति का बोधक है:—

केशों की अंधेरी गुफाओं में
मेरे प्राण बन्दी हैं,
(मेरे प्राण बसते उंगलियों में)
कुंजी रहित ताले सी नींद यह
नहीं खुलती
नहीं खुलती !

— —

कथा की धारा पर
बांध बन गया है
जिसका फाटक बन्द है
(क्योंकि यन्त्र-चालक जलाशय में डूब गया)
धारा का द्वार यह
नहीं खुलता,
नहीं खुलता। (शम्भूनाथ सिंह)

भारतभूषण अग्रवाल का 'विलायती स्पंज' मध्यवर्गीय बुद्धजीवी का प्रतीक है: —

मैं निरा विलायती स्पंज हूं
मेरे प्राण रिक्त और छिद्रमय
उनमें कहां है रस;
उनमें कहां है स्रोत ?
मैं तो मात्र बाहर के जीवन को सोखकर
फिर उगल देता हूं
सो भी तब जब कोई आके निचोड़े मुझे।
(भारत भूषण अग्रवाल)

४. यौन प्रतीक

कवि जब अन्तर्मुख होकर आत्मविश्लेषण में लग जाता है तो यौन भावनाएं मुखरित हो जाती हैं। अज्ञेय तथा उसके अनुयायियों ने प्रकृति तथा जीवनचर्या । मे यौन प्रतीकों का समावेश निस्संकोच होकर किया है। वस्तुतः ही अधिक व्यक्त हुई हैं। एक आलोचक का इस बारे में कथन है-

'प्रतीक योजना' के क्षेत्र में प्रयोगवादी कवियों ने अद्भुत प्रतीकों का प्रयोग किया है जो अत्यधिक अस्पष्ट तथा दुरूह हैं। 'अज्ञेय' की रचनाएं इस विषय में सबसे बढ़ी-चढ़ी हैं। उन्होंने तो विकृत यौन प्रतीकों का आधार लेकर अपनी कुण्ठाओं को उभारा है जो सर्वथा हेय है। (शिवकुमार मिश्र)

विगलित कुण्ठाओं को व्यक्त करने के कारण ये प्रतीक लोकहित के लिये समीचीन नहीं हैं। फिर भी अज्ञेय इन यौन प्रतीकों का समर्थन करते हुए कहते हैं 'आज के मानव का मन यौन परिकल्पनाओं से लदा हुआ है और वे कल्पनाएं दमित एवं कुण्ठित हैं। उनकी सौन्दर्य चेतना भी इनसे आक्रान्त है। उसके उपमान सब यौन-प्रतीकार्थ रखते हैं। प्रतीक द्वारा कभी-कभी वास्तविक अभिप्राय अनावृत हो जाता है। (अज्ञेय)

कुंवरनारायण के जीवन दर्शन में समस्त सुखों का केन्द्र यौन प्रतीकों में निहित है। आमाशय, गर्भाशय, यौनाशय ही सुख और सौन्दर्य के प्रतीक हैं:—

आमाशय
गर्भाशय
यौनाशय

उसकी जिन्दगी का यही आशय
यही कितना भोग्य
कितना सुखी है वह। (कुंवर नारायण)

इन विविध प्रकार के प्रतीकों में से कुछ का धरातल वैयक्तिक है जिससे शुष्कता, बौद्धिकता, क्लिष्टता, आ गई है। सन्देह है कि सृजन कर्ता भी उन्हें समझ पाता हो। कुछ ही सर्वमान्य धरातल पर श्रेष्ठ बन पाये हैं। उनमें से अधिकांश में अनुभूति की तीव्रता, प्रेषणीयता का अभाव है।

छन्द विधान

दशक के काव्य ने परम्परागत छन्द की कारा को तोड़ दिया। मुक्त-छन्द के प्रवर्तक निराला के मुक्त-छन्द का समर्थन प्रसाद और पन्त ने किया। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद ने उसे अपनाया गया। लेकिन उसका विपरीत अर्थ ग्रहण किया गया। उसे विरोधमूलक मानकर स्वच्छन्द छन्द भी कहा गया। डॉ॰ जगदीश गुप्त के अनुसार 'चरणों की अनियमित, असमान स्वच्छन्दगति और भावानुकूल यतिविधान, मुक्त-छन्द की प्रमुख विशेषताएं हैं।'[1] जबकि निराला का कथन है— "मुक्त-छन्द

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, सम्पादक धीरेन्द्र वर्मा आदि, पृ॰ ५६८।

वह है, जो छन्द की भूमि में रह कर भी मुक्त है— मुक्त-छन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है।"[1]

मुक्त छन्द की प्रमुख विशेषताएं ये हैं:—

१. प्रवाह का तारतम्य
२. मुक्त-छन्द विधान
३. असमान स्वच्छन्द गति
४. भावानुकूल गति
५. चरणों की अनियमितता
६. तुक की गौणता
७. लघु-गुरु रहित नियम के प्रयोग

लय का कविता में विशिष्ट स्थान है जो एकीकरण शक्ति से बिखरे तत्वों को संश्लिष्ट बनाती है। दशक की कविता में लय युक्त मुक्त-छन्द भी है तथा लयहीन मुक्त-छन्द भी है।

लय युक्त मुक्त-छन्द में समान लय वाले छन्द भी मिलते हैं, दूसरी ओर विविधता वाले छन्द भी। अजितकुमार की २१–२१ मात्राओं से युक्त समान लय वाली एक कविता है:—

फिर तुमने बांहे फैला, आकाश तक
उड़ जाने की अभिलाषा मन मे भरी,
फिर मैंने सोचा-शायद मैं पंख हूं
जो आ जाता काम, न यदि तुम त्यागती। (अजित कुमार)

लय की विविधता वाले छन्दो मे कई रूप दृष्टव्य होते हैं। कहीं-कहीं एक पक्ति को छोड़कर शेष में मात्रा विधान समान रहता है। इससे गति भंग का दोष पैदा होता है। दूसरे रूप मे हर एक पक्ति मे एक छन्द होता है जिसकी आवृति उसी कविता में कई बार हो सकती है। तीसरे रूप मे लयभेद अनेक स्थलों पर परिलक्षित होता है।

लयहीन मुक्त छन्दों में कहीं तुक होती है, कहीं नहीं। छोटी-बड़ी पंक्तियों मे वाक्य विन्यास गद्यवत् होता है। धर्मवीर भारती की 'कनुप्रिया' और 'अन्धायुग' की कविताएं इसी प्रकार की हैं। वास्तव में आज के कवि इलियट के इस कथन को मान कर चलते हैं।

'कविता गद्य को अस्तव्यस्त करके उद्भूत करती है।'

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, सम्पादक धीरेन्द्र वर्मा आदि, पृ० ५९८।

वास्तव में तुक से नाद सौन्दर्य में वृद्धि होती है। नई कविता में तुक का विरोध हुआ है, पर कहीं-कहीं तुक का मोह दृष्टिगत होता है। लेकिन यह आश्चर्य है कि नये कविता के समर्थक छन्द के विरोधी हैं और लय के पक्षपाती जो कि विचित्र अन्तर्विरोध का सूचक है फिर भी गद्यवत् वाक्य विन्यास को देखकर इस कथन में सत्य का अंश कम दिखलाई पड़ता है। गद्याभिभूत कविता द्रष्टव्य है:—

'हाथ हिलाया आशय था। जाओ। जाओ पर-लेकिन पाया तुम्हें स्तम्भवत्। सूरज को देखा। पथ देखा। पाँव उठाये। दो डग चला। दीर्घ थी छाया। मुड़कर देखा तुम्हें, लिया जीवन का लेखा।" (त्रिलोचन)

इसमें काव्य की अपेक्षा गद्य अधिक है। नलिनी विलोचन की कविताएं भी इस प्रकार हैं:

> फूल बहुत उठती है
> शाम के अलावा भी
> गायों के बिना भी।
> तीन-दो बराबर हैं
> आंखें मेरे पास गो क
> दो जोड़ एक बराबर तीन
> आँखों, या फिर हजार आँखों
> की चर्चा पुराणों में है। (नलिनी विलोचन शर्मा)

इन कविताओं को ज्यों की त्यों गद्य मे लिखा जा सकता है। गद्यात्मकता सहृदय पाठकों को अरुचिकर प्रतीत होती है।

"तुम अमीर थीं, इसलिये हमारी शादी न हो सकी। पर, मान लो, तुम गरीब होती - तो भी क्या फर्क पड़ता। क्योंकि तब मैं अमीर होता।"

(भारतभूषण अग्रवाल)

कवियों ने लोक गीतों की धुनों को अपनाया है। यह अभिनव प्रयास है। बच्चन, का प्रयास इस ओर सराहनीय है। लोकधुनों के पुनरुत्थान की दृष्टि से इसकी प्रशंसा की जायेगी लेकिन केवल प्रयोग मात्र तक यह रुचिकर है उसे काव्य की संज्ञा देकर गति मे अवरोध उत्पन्न करना हानिकारक होगा: -

> कहते हैं
> कहते हैं दुनियां छोटी हुई
> पिया नेड़े रहें तो मैं मानूं।
> जितनी दूर पिया की नगरी
> पहले थी, अब भी है पगली। (बच्चन)

इस प्रवृत्ति को 'अज्ञेय' की 'कांगड़े की छोरियाँ' में देखा जा सकता है :—

कांगड़े की छोरियाँ
कुछ भोरियां, सब गोरियाँ
लालाजी, जेवर बनवा दो
खाली करो तिजोरियां
कांगड़े की छोरियाँ । (अज्ञेय)

कहीं-कहीं कवि लोक धुन उठाता है :—

रात-रात भर भर भौंरा पिहके, बैरिन नींद न आवे
बड़े भोर सारस कँकारे, नदियों तीर बुलावे
बिखरे-बिखरे सपने-चुन-चुन
सूनी रैन सजाऊँ
भोरे-भोरे नदी-तीर
बालू के महल बनाऊँ
कौन उड़ा ले जाय सपनवां, कौन महलियां ढाये ?
(रामदरश मिश्र)

दशक की कविता उर्दू और फारसी के छन्दों से बहुत प्रभावित हुई है। रुबाइयों और गजलों के सांचे में कविताएं लिखी गई :—

सवेरे सांझ चाय पीता है
हालका सा खुशी से जीता है,
कौन जाने करार में क्या है,
दिल है खाली, दिमाग रीता है । (देवराज)

प्रयोगवादी कविताओं में सॉनेट' और उर्दू के अनेक छन्दों का प्रयोग हुआ है । आजकल इन विदेशी छन्दों का बाहुल्य है । त्रिलोचन ने नागार्जुन के प्रति पांच सॉनेट लिखे हैं :—

नागार्जुन-काया दुबली, आकार मझोला,
आँखें धँसी हुईं, घन भौंहें, चौड़ा माथा,
तीखी दृष्टि, बड़ा स्वर-उसमें ऐसा क्या था
जिससे वह जन असामान्य है । पूरा चोला
कुछ विचित्र है, पतले हाथ पैर— । वह बोला
जब कविता बोला, तब सगा-सत्य सुना था !
(त्रिलोचन)

सॉनेट में १४ पंक्तियाँ और हर एक पंक्ति में २४-२४ मात्राएँ होती हैं।

कुछ प्रयोगवादी कवियों ने सॉनेट और उर्दू छन्द समन्वित कविताएं रची हैं। कविता पढ़कर उसकी उपादेयता स्पष्ट हो जाती है। कला की लोकशक्ति कवि नागार्जुन को, एक ग्रामीण साथी के जूते उठाकर सहज स्वभाव, चुपचाप, उनके उचित स्थान पर रखते देखकर यों सम्बोधन करती है :—

> होंगे वे नशे कहीं, होंगे वो फूल
> राग-रस जिनसे अछूते हैं मेरे ?
> प्राण प्राणों में अकूते हैं मेरे
> सींचता है तू जहां नव – रस – मूल। (शमशेरबहादुर सिंह)

इनके अतिरिक्त चतुष्पदियां लिखी गई। परन्तु मुक्त शब्दों का प्रयोग निराला की मान्यता तक ठीक है। उसमें उच्छृंखलता और गद्यात्मकता का प्रयोग अवांछनीय है।

भाषा तथा शब्द विधान

दशक की भाषा अनेक परिधानयुक्त खड़ी बोली ही है। भाषा सम्बन्धी कुछ विशेषताएं इस प्रकार हैं—

१. शब्द समूहमें आंग्ल शब्दों की प्रचुरता है। जैसे— "मॉर्फिया, पिकनिक, सिगरेट, *आर्मचेयर, नाइफ, गाउन, एटम, काफी हाउस, लिपस्टिक, आल राइट,* डी, आदि सहस्रों शब्द देखे जा सकते हैं कुछ का हिन्दी संस्करण भी कर दिया है। इनमें से कुछ प्रचलित शब्द जनता द्वारा ग्राह्य हैं जैसे स्टेशन, होटल, ज, क्लर्क, आदि। अप्रचलित शब्दों को प्रयुक्त कर भाषा की समृद्धि करना म्भव है। इससे भाव प्रवाह में गतिरोध आता है।"

२. नये विशेषणों तथा क्रियापदों को अपनाया गया है—"लहरिल (उड़ान), वायी (लहरों), मोरपंखिया चांदनी, निर्जना (डगर), गंसीनी (अधकार) बैरिन , बहकी-बहकी धूप, चितकबरी रात, नशोड़ा नदी, दूधिया चांद, आदि। ापदों दोनों रूप अकर्मक, सकर्मक अपनाये गये हैं। अकर्मक— बिलमों, सती, थिरने दो, टिमक गया, पगुराती, बिलखता, बिलमगदा, उमसना आदि। र्मक—हुलसायेगा, असीसूंगा पिन्हा दो, सरकारों, उजालो आदि।

३ संस्कृत शब्दों के अपभ्रंश रूप तथा ग्राम्य दोष भी यत्र-तत्र दिखलाई ते हैं – परवत, हरस, पारबती, कलयुग, सुर, पल्कें, आकास, बयाह, ओठ, होठ, , रीत, सबेरे. मश्शाल, हरकारों, नीको, दोपहरी, चिड़ियें, पियो, असाढ़, अमून, वा, चौबारे, डिग, भागों, पाथर, आदि।

४. दशक की कविता ने उर्दू और अंग्रेजी शब्दों के मोह में संस्कृत से प्रेरणा ा बन्द कर दिया है जबकि छायावादी कविता ने संस्कृत से ही प्रेरणा ली थी।

नई कविता में तो अधिकांशतः ही अंग्रेजी और उर्दू के शब्द आये हैं। उर्दू की ए... अधिकांश भाषा में मिलती है। शीर्षक भी अंग्रेजी और उर्दू भाषा के हैं। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की 'पीस और पैगोडा' कविता इसी प्रकार की है:—

"एक लाश खड़ी करके दूसरी लाश उसके सर पर लिटा दी गई है,
ताकि उसकी छांह तले
ठण्डक से ऐंठे हुए
दो बेहोश जहरीले साँपों के फन
एक ही कमल पखुरी पर
सुलाये जा सकें क्या कमाल है मेरे दोस्त। (सर्वेश्वर दयाल सक्सेना)

'बुतपरस्ती' शीर्षक में लिखी कविता इसी प्रकार की है:—

"किया गया तलब
कहा गया चलो कलब
सवाल— जवाब से तुम्हें मतलब ?
जुम्बिसाने— से लब
गये कुछ दब :
टपकने लगे नैनों के टब। (राजेन्द्र माथुर)

उपर्युक्त उदाहरणों में अधिकांश शब्द उर्दू के हैं। सम्भवतया उर्दू न जानने वाले के लिये उर्दू और फारसी का शब्दकोश अपने पास रखना पड़े।

लेकिन उर्दू शब्दों का बाहुल्य हिन्दी के लिये समीचीन नहीं है। हिन्दी के लिये संस्कृत ही प्रेरणा का स्रोत रही है क्योंकि वह भारतीय संस्कृति, सभ्यता, धार्मिक भावना, आध्यात्मिक शक्ति से ओत-प्रोत है।

लिंग सम्बन्धी दोष भी काफी पाये जाते हैं। कहीं पुलिंग 'पलंग' स्त्रीलिंग बन गया है। तो कहीं 'झाग' भी स्त्रीलिंग की कोटि में रख दिया है। चांद और भोंपू भी स्त्रीलिंग माने गये :—

क्षितिज की गजी चाँद
रिक्सों की वर्णसकर भोंपू। (नलिनी विलोचन शर्मा)

५. कविता में जनभाषा तथा बोल-चाल की भाषा को पास लाने का प्रयास किया है। पर उससे भाषा में विकृति और दुरूहता पैदा हुई है।

प्रभु मोर काठ के
बल देवो, घोप देवो, न्याय देवो!!
जानी हमों कवि नहीं

जानो हमीं ऋपि नहीं
हमीं संगीतहारा, पथहारा–
कोटि जन सर्ग पिस गये पूंजीरथे ।   (नरेश मेहता)

इन कवियों का विचार है कि हिन्दी मे संगीतात्मकता की क्षमता का अभाव है। हिन्दी का व्याकरण ही उन्हें संगीत विरोधी प्रतीत होता है इसलिये वे जनपदीय बोलियों और अन्य प्रान्तीय भाषाओं, विशेषकर बंगालीपन लाने के लिये अपनी भाषा को विकृत कर रहे हैं :—

दखिनदार उघाड़ी वसन्त आयो !!
हमां के पतझड़ नग्न कियो,
पुराना पात झाड़ गियो,
सेरो काटे जीर्ण जीवन,
बुहारी लिये जावें पवन ।
नूतन खातिर मार्ग देवो,
जो हमार मोह पुरातन ।
गोपुरे शंख डाके सुनो सखि ।
ऋतु श्रीमंत आयो ।।   (नरेश मेहता)

६. अभिव्यक्ति के लिये नई कविता में टेढ़े-मेढ़े, आड़े-तिरछे चिन्हों को प्रयुक्त किया है। अज्ञेय द्वारा 'तार सप्तक' की भूमिका में प्रयोगवादियों को संकेत दिया गया है कि अपने भावों की अभिव्यक्ति को टेढ़ी-मेढ़ी, आड़ी-तिरछी लकीरों को अपनाना चाहिये। फिर भेड़ चाली क्यों चूकें। उर्दू-अंग्रेजी शब्दों में समन्वित कविता में दृश्यकाव्य जैसा तत्व, समीकरण जैसी आकृति देखी जा सकती है:—

"प्रेम को टूं जेडो"
—7⁻⁻—7
(हाय !)
∠—⁻—7
(नहीं चैन,
जागते ही कट गयी रैन-)
(प्रेम यानी इश्क यानी सब !)
"!"
"!!"
⊾+⊾

(अरमानों के गाल पर चांटा
झरबेरी का कांटा)
८—१—7
(मुहब्बत में घाटा !!) (सैयद सफीउद्दीन)

इसमें अत्यधिक वैयक्तिकता है जिससे दुरूहता आ गई है। जन सामान्य की बुद्धि से यह परे है।

भाषा मे मनमाने प्रयोग किये गये हैं। भले ही उनका प्रयोग, घर, पड़ोस में ही होता हो। इनको लोक ग्राह्य नहीं बनाया जा सकता। प्राचीन शब्दों को नये अर्थ मे व्यवहृत करने में लोकमान्यता का होना अनिवार्य है।

समष्टि में अभिव्यक्ति के उपादानों मे दशक के कवियों ने सतर्कता नहीं अपनाई है। यह स्वच्छन्द रहा है। जिससे कविता वैयक्तिक, दुरूह, दुर्बोध, क्लिष्ट हो गई है। इन अभावों को दूर करके कविता मंज सकती है। थोड़ा उपमानो पर विचार किया जाय।

उपमान विधान

नई कविता नवीनता की कुण्ठा से ग्रस्त है जो चमत्कार पैदा करने के लिये सर्वग्राही, सर्वमान्य, परम्परागत उपमानों को छोड़कर नये उपमानों की ओर शिरसा से दौड़ रही है। कमल, मयङ्क, ज्योत्सना, चातक, चकोर, हरिण, खंजन, मीन, सिंह तथा कदली के स्थान पर कुत्ता, बिल्ली, गधा, घोड़ा, केंचुआ, कछुआ, चाय, सिगरेट, शराब आदि उपमानों को खोज रही है। सुपरिचित सुतिया दूध में खड़ा धैर्यहीन दरहा अज्ञेय का प्रिय उपमान रहा है। उसे सुनने की आग के साथ झिल्ले की रिरियाहट सुनाई पड़ रही है। यथा—

> दूर किसी मीनार क्रोड से मुल्ला का
> एक स्वर पर अनेक मायाद्दीपक
> गंभीर आस्ह्वान
> “[illegible]
> निकल गया मैं
> झिल्ली की करुण रिरियाहट। (अज्ञेय, तार सप्तक)

किसी ने तारों को लालटेन की ओछी परिधि में बांध दिया है।[1] किसी को

---

१. प्रभाकर माचवे, [illegible], 'तार सप्तक' पृ० १६।

नूपुर ध्वनि और चप्पल की आवाज में साम्य दिखलाई पड़ता है।[1]

ये उपमान दशक से पूर्व के हैं। दशक में भी नये उपमानों के नाम पर विविध उपादानों और उपकरणों को ग्रहण किया है :—

नव दूल्हे सा सूरज, नव वधू पीछे-पीछे यह
शुक्रतारा जा रहा है।

—

इंजन के हैडलाइट सा, शोरगुल के बीच
सूरज निकल गया।
गार्ड की रोशनी-सा पीछे पीछे गुमसुम अब
शुक्रतारा जा रहा है ॥२॥
हमारी बस्ती में, दिये से, बल्ब से (पेट्रोमैक्स सा चांद),
चारों ओर जल उठे तारे।
दूरी में बैलगाड़ी की लालटेन सा यह
शुक्रतारा जा रहा है। (मदन वात्स्यायन)

शुक्रतारे के उपमानों की लड़ी लगा दी गई है। शाम मानो एक कुबड़ी बुढ़िया है, जिसका कूबड़ ऊपर उठता हुआ विराट आकाश का स्पर्श करता है। अथवा वह चीड़ वन में भटकी हुई भयभीत छोटी बच्ची है जो घाटी के बीच कहीं खो गई है। (शम्भूनाथ सिंह)

मस्तिष्क में भावों की उलझन फैके हुए गुलभट्टे बालों की तरह है, जीवन पथ प्रशस्त नहीं है, उसमें सांप और सीढ़ी का उलझा हुआ निरन्तर खेल चल रहा है:—

फैंके हुए गुलभट्टे बालों के
सेमली दिमाग में
सांप और सीढ़ों के खेल सी
चारों तरफ
उलझी, चिती
राहें ही राहें हैं।
काजल के थूके हुए झाग
हैं चिराग में। (गिरिजाकुमार माथुर)

---

१. भारतभूषण अग्रवाल, 'तार सप्तक,' पृष्ठ ३०।

९

सम-सामयिक चेतना, युद्ध कालीन हिन्दी काव्य के सन्दर्भ में

मेरे एक मित्र ने पूछा—चीन और पाक युद्धों के अन्तराल में क्या कोई ऐसा गीत, ऐसी कविता, अथवा प्रयाण-गीत लिखा गया जो जनता का कण्ठहार बना हो अथवा जिसने सर्वांग रूप से जनता की भावनाओं का प्रतिनिधित्व किया हो ? फिर यह अहसास देना कि आज का कवि "आधुनिकता" और समाज के प्रति प्रतिबद्ध है, कहाँ तक उचित है ?

निस्सन्देह प्रश्न विचारणीय है, बहुतसी युद्धकालीन कविताएं इसी भारत पाक सन्दर्भ की देन हैं, परन्तु जनप्रिय हैं अथवा अपने सामाजिक दाय के बोध से सम्पृक्त हैं, यह कहने में मुझे संकोच था। क्योंकि आज का कवि "जनप्रियता" पर प्रश्नवाचक चिन्ह लगाता है। वह समुदाय-विशेष के संवेदनशील प्राणियों की बात करता है, शेष ो उपेक्षणीय मानना है। यह भी विचारणीय है, आखिर उस महाअंश का प्रति-धित्व करने वाले असवेदनशीलों से असम्पृक्त रहकर कविता, क्या कवि कम को ार्थक करती हुई अक्षुण्ण रह सकेगी इस असम्पृक्ति मे स्वभोग तो आपस में बाँटा ा सकता है पर, पर-भोग नहीं। जब तक सामान्य-जन के मानस में पैठकर अपने ाग्र को वह सजाता, और सवारता नहीं, तब तक आत्माभिव्यक्ति के सहारे काव्य रीहीन गाड़ी की तरह धकेला जाता रहेगा।

इस असम्पृक्तता का सद्यः उदाहरण है, हिन्दी का भारत पाक युद्धकालीन ाव्य। इस काव्य के प्रकाशन के दो माध्यम रहे हैं। पहला पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम प्रकाशन और दूसरा आकाशवाणी एवं कवि सम्मेलनो के मच द्वारा प्रसारण। ाकाशवाणी का जो स्तर है वह काफी आलोच्य, विवेच्य, और खेदजनक रहा है, तः उस पर ध्यान देना आवश्यक नहीं है, क्योंकि आकाशवाणी सामाजिक दायरे ो पूरा करने मे असफल रही है।

अब शेष रहती है कवि सम्मेलनो और पत्र-पत्रिकाओं द्वारा प्रसारित एवं काशित काव्य की उपलब्धि। विभिन्न कवि सम्मेलनों और पत्र-पत्रिकाओं में

समर-भूमि में। इन कवियों ने युद्ध के माहौल में उत्पन्न आतंकों, अनगिनत
हत वेदनाओं की सिसकियों, मोकनाक शब्दों से उत्पन्न करुण-क्रन्दन के
ौर लिज-लिजे दर्द को पीया नहीं, क्यों कि कवियों में वह जिगर कहाँ था,
ाकूट पचजाता। आज का कवि अपने को संवेदनशील कहता है, परन्तु वह
उस समय कहाँ गई, जब सद्यः विवाहिताओं की माँगों का सिन्दूर मिट गया,
६ अबोध शिशुओं का बाप, उस भरे-पूरे परिवार को छोड़कर शहीद हो
र जब वृद्धा अपने इकलौते पुत्र के मेरा रहने में करुण-क्रन्दन कर रही थी,
ाव परकटी चिड़ियों सी और क्रौंच पक्षी को तरह निकलती चीत्कारों से
आकाश को गुंजा रही थी, जब नृशंसता का वीभत्स शिशुपाल चुन चुन
ाचार और बम-वर्षा रूपी अपशब्द कर रहा था। यदि वह संवेदनानुभूति
अवश्य अभिव्यक्ति पाती।

यह मुग़ालता भी व्यर्थ है कि उनकी नारेबाजी घिसे-पिटे और अनिकापूर्ण,
ी उत्प्रेरणा से सैनिकों का और जनता का मनोबल जागता है। जब वीरता
ाहस का दर्प स्वतः प्रबुद्ध होता है, तब शाब्दिक ललकारों की कोई महत्ता
ा। उस समय चाओ-माओ के कान खींचने और अयूब-भुट्टो पर नकली
भाजने से काम नहीं चलता। 'दिनकर' के स्वरों में यह भाव है:—

मुझे कविता के लिए क्यों खोदते हो?
तलवार जब निकल पड़ती है,
वह लेखनी का मुंह नहीं जोहती।
और युद्ध के समय साहित्यिक क्रोध छूंछा
और साहित्यिक आंसू अर्थहीन है।

युद्ध-सैनिकों को इतना अवकाश नहीं होता कि वे कवियों का संप्रश्य को
कर सकें। आवश्यकता जनता के मनोबल को जाग्रत करने की है। उसके लिए
लेखकों का क्या दाय होगा, यह विषय सामूहिक वक्तव्य देने और परिचर्चा
ा नहीं है, कार्यान्वित करने का है। एक बारगी तो लगा, अकेलेपन के
से मुक्त होकर साहित्यकार, जिसमें कवि भी सम्मिलित हैं ही, सामूहिक
द फूंक कर कुछ करने पर उतारू हैं। पर यह हिमाकत परिचर्चाओं और
के आयोजनों से बढ़कर कुछ ठोस करने में असमर्थ रही। उस युद्धकालीन
में परिचर्चाओं के विषय, आधुनिकता, 'बीटनिकों का फलसफा', बंगाल की
पीढ़ी' और नयों का पुरानों के प्रति आक्रोश रहा। बीच बीच में मूल्यों के

विघटन की चर्चा भी रही, पर उनके संभाव्य की नहीं।

अकेलेपन के अहसास की वैयक्तिक अनुभूति को जिसने अपने विशाल पंजों मे जकड़ी नई पीढ़ी को निष्क्रिय, खोखला और कुण्ठाग्रस्त बना दिया था इस युद्ध ने प्रबल आघात पहुँचाया। एक सामूहिक चेतना, एकता और भातृत्व का नवीन बोध समान-धर्मा बन जागृत हो रहा था। जैसे युद्ध की अनिवार्यता कर आत्म-रक्षा, स्वाभिमान, और प्रादेशिक अखण्डता के लिए नाकारा नहीं जा सकता, उसी प्रकार तज्जनित जो जागृति की लहर राष्ट्र भर मे परिव्याप्त हुई, उससे भी नाकारा नही जा सकता। वस्तुतः युद्ध एक देन प्रमाणित हुई, एकता के अश्वमेध मे। शम्भुनाथ सिंह ने इसकी प्रतीति की थी:—

> कल का मुर्दा शहर जी उठा है
> और सड़कों पर बहती भीड़
> मोरचे की ओर दौड़ती
> रेजिमेण्ट बन गई है
> हम सब आभारी हैं
> अपने भीतर के उस खोखलेपन के
> जिसमे अज्ञात दिशाओं से आये
> जेट युद्धको पर
> विमान-वेधी तोपें
> निशाने लगा रही है। (शम्भुनाथ सिंह)

जनता के मनोबल को खण्डित करने का प्रयास उन व्यापारियों ने किया जो संकटकालीन अवस्था मे कीमतें बेइन्तहा बढ़ाकर, आन्तरिक शत्रुओं का कार्य कर रहे थे और अब तक कर रहे हैं। इस कार्य मे चोर चोर मौसेरे भाई की तरह सम-भागी अधिकारी गण भी कम देशद्रोही नहीं हैं। जिन्होंने गल्ला और चीनी हथिया कर चोर बाजारी को प्रश्रय दिया, और अपनी सन्तति के लिए ढेर सारी सम्पत्ति का केन्द्रीयकरण कर लिया। इस सामाजिक दाय के प्रति हमारे कवियों का युग-बोध सुप्त रहा। उनके द्वारा भोगायित जीवन भी सम्भवतया अछूता रहा, क्योंकि उन्होंने इसे नेताओं का दाय समझ अपनी लक्ष्मण-रेखा को प्रमिट मान लिया।

युद्धकालीन सम-सामयिक चेतना के प्रति कुछ कवि जागरूक भी रहे हैं। उनकी सचेतना और जागरुकता के प्रति समय-बोध हो ही नही सकता, न ही उनकी देन को नाकारा जा सकता है। दिनमान, १ अक्तूबर, मे प्रकाशित दिनकर की कविता 'आशा जीवन है,' जहाँ आस्था और सचेतना की सम्पृक्तिका बोध कराती है, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की 'युद्ध स्थिति' और अज्ञेय की 'अन्धकार में जागनेवाले'

कविताएं, युद्ध संदर्भ से अनुप्रेरित विचारों और भावों की वाहिका हैं। इसी प्रकार २२ अक्टूबर के दिनमान में अज्ञेय की कविता 'विदाप (?) की स्थितियाँ' जहाँ जागरूक रहने की प्रेरणा देती है, वहीं कुशल पत्रकार की सी यथार्थ वस्तुस्थिति का अहसास भी। इसी अंक में प्रकाशित सर्वेश्वरदयाल की 'लड़ाई का इन्तजाम' कविता में बिटिया के माध्यम से जन-जागृति और मनोबल का बड़ा सुन्दर परिचय दिया है। इसी संदर्भ में २४ अक्तूबर के धर्मयुग में प्रकाशित 'हथियारों का नहीं, मर्दों का गीत' ३१ अक्तूबर, के अंक में कैलाश वाजपेयी की 'मुर्ग पैगम्बर,' और ७ नवम्बर के अंक में शम्भुनाथ सिंह की 'हम सब आभारी हैं,' कविताएं उल्लेखनीय हैं। हथियारों का नहीं, मर्दों का गीत में जहाँ ओज है, मर्दानगी और साहस को अर्घ्य है, वहाँ 'मुर्ग *पैगम्बर' में सामान्य रूपक (मुर्गे) द्वारा व्यंग्यपूर्ण भावोदबोधन है।* इन कवियों ने उस दाय को प्रतीत किया जिसको रूपर्ट ब्रुक, बिलफ्रेड ओवेन और सिगफ्रिड ने किया था। इनके अतिरिक्त अन्य कवियों ने भी युद्ध संदर्भ में कविताएँ प्रस्तुत कीं, परन्तु अनुभूति की अपरिपक्वता, उनके सम्प्रेषण में बाधक रही। अनिवार्य नहीं था, कि ये कवि मोर्चे पर ही जाकर अनुभूतियों को संजोते, पर जो परिवेश और माहौल व्याप्त था, उसमें भी रस का अभाव नहीं था, बशर्ते की उसे निचोड़ा जाता।

१०

संक्रांतिकालीन हिंदी कविता और प्रवृत्त्यात्मक विरोधाभास

बीसवीं शताब्दी को सामान्य जीवन में असंतोष और बुभुक्षा का युग माना गया है। साहित्य, जीवन से असंपृक्त होता है, अतः संक्रांतिकालीन ह्रासोन्मुख परिस्थितियों ने काव्य को भी अनुप्राणित किया है। पाश्चात्य काव्य-जगत में यह प्रवृत्ति ज्योर्जियन कवियों से ही दृष्टिगोचर होती है। प्रथम तथा द्वितीय विश्व-युद्धों से काव्य विशेष रूप से आक्रांत हुआ। मानस-मूल्यों के विघटन के साथ ही सभ्यता और संस्कृति का भी विघटन प्रारंभ हो गया था। हिरोशिमा पर बम का गिरना अणु-युग की संक्रांति का सूचक बना। इस विध्वंसक शक्ति ने मानवीय चेतना को झकझोर दिया। प्राचीन मान्यताएँ तो प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व से ही खंडित होनी प्रारंभ हो गयी थीं, जिसके परिपार्श्व में औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप उत्पन्न हुई परिस्थितियाँ कार्यरत थीं। प्रथम विश्व-युद्ध ने इन मान्यताओं पर अंतिम प्रबल आघात किया जिससे पूर्ववर्ती मान्यताएँ खंडित हो गयीं।

जैसे-जैसे मानव-मूल्यों में तीव्रता से विघटन हुआ, वैसे-वैसे अनास्था, कुंठा, असंतोष, वेदना के स्वर उभरते रहे। महायुद्ध के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई विभीषिका ने भी इन स्वरों को बढ़ावा दिया। इस संक्रांति-काल में कवियों की पुरानी जीवन-निष्ठा, सौन्दर्य-बोध और अनुभूति भी मर्माहत हो गयी और उसका स्थान अनास्था, अनिश्चितता, कुंठा, आकुलता और मानव-द्रोही व्यक्तिवाद ने ले लिया। युद्धकालीन कवियों में बिरकेड ओवेन, सिगफ्रिड सैसून, रूपर्ट ब्रूक तथा टी० एस० इलियट और एजरा पाउंड से ले कर डायलन टॉमस तक यह प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है। नये पाश्चात्य काव्य-सर्जकों द्वारा जिस समय उद्वेगजनक रचनाओं का सर्जन हो रहा था उस समय विज्ञान के क्षेत्र में आइंस्टीन, दार्शनिकों में रसेल और स्पेंग्लर, इतिहास में टॉयनबी, साहित्य में सामरसेट मॉम और प्रिचेट जैसे प्रभृति विद्वान इस साहित्य को अवांछनीय और निकृष्ट घोषित करते रहे, फिर भी वर्तमान के असंतोष और अव्यवस्था को ले कर काव्य में स्वच्छंद आचरण तथा उच्छृंखलता का भरपूर

ह्रास होता रहा। विकृत भोग-प्रवृत्तियाँ ही जीवन की सार्थकता बन गयीं। वातावरण का स्वरूप भी नश्वर अनुभूतियों के साथ तादात्म्य न होने के कारण कुत्सित वासनाओं की ही अभिव्यक्ति होती रही।

युद्धपूर्व-काल में हिंदी काव्य, पाश्चात्य काव्य से उतना प्रभावित नहीं हुआ जितना युद्धोत्तर काल में। निराशा, कुंठाएँ, युद्धजनित विभीषिकाएँ वैयक्तिकता आदि का समावेश पाश्चात्य देन ही है। इलियट के 'वेस्ट लैंड' (ऊसर भूमि) से प्रभावित होकर भय, पलायन, व्यभिचार, स्वार्थ लोलुपता को हिंदी काव्य में विकृत रूप में ग्रहण किया गया।

पाश्चात्य जगत की इस समकालीन कविता ने हिंदी काव्य में कतिपय नई प्रवृत्तियों को प्रादुर्भूत किया। १. वैज्ञानिक अन्वेषणों के फलस्वरूप जीवन इतना गतिशील हो गया कि पुरातन काव्य की भावसंवलित शैली भाव-तत्व से मुख मोड़कर बौद्धिकता की ओर उन्मुख हो गयी। वैज्ञानिक अन्वेषणों और प्रयोगों के वैविध्य ने कल्पनाशील रागात्मक के प्रवाह को अवरुद्ध कर दिया। बौद्धिकता ने तुच्छता को जन्म दिया। २. बौद्धिकता से तर्क उद्भूत हुआ। तर्क ने प्राचीन मान्यताओं को खंडित कर दिया जिससे नैतिक बंधन शिथिल हो गये। इसी प्रक्रिया में मानवीय अहं अपने कई कलेवरों को धारण कर के उदित हुआ। फ्रायड की तथा एडलर, युंग की विचारधाराओं ने मानव-मूल्यों के विघटन में तथा अहं के परिष्कार एवं प्रसार में योग दिया। ३. फ्रायड की विचारधारा से उद्भूत चेतना का मुक्त प्रवाह (फ्री एसोसिएशन) ने काव्यात्मक संवेदनाओं और काव्य-रचना-प्रक्रियाओं को अप्रत्याशित रूप से प्रभावित किया। अतश्चेतन के मुक्त प्रवाह में प्रतीकों और बिंबों का महत्व बढ़ गया। इससे नये काव्य में अभिधार्थ के स्थान पर व्यंग्यार्थ और संकेतित अर्थ का प्राबल्य हो गया। काव्य ने स्मृत्यात्मक रूप ने बिंबों को जन्म दिया। ४. नया काव्य निर्वैयक्तिकता को वैयक्तिक ढंग से पकड़ने लगा। मानव-चरित्र उनके लिए स्वतंत्र एवं स्थूल इकाई न रह कर अचेतन प्रतिक्रियाओं का विशृंखल समूह मात्र रह गया। इसीलिए नये कवि पात्र को महत्व दे कर खंड-चित्र को ही महत्व देते हैं। इन खंड-चित्रों से साधारणीकरण करने के लिए पाठकों को अपनी ओर से प्रयास करना पड़ा। सामान्य पाठक ने मानसिक कलाबाजियों में अपने को असमर्थ पा कर नये काव्य को उनके सर्जकों के लिए छोड़ दिया जिससे वे वक्तव्य देने में उलझे रहें। ५. नये काव्य में कवि ने क्षण के साथ मानसिक संभोग किया। प्रत्येक क्षण में कौंधने वाले क्षणों का वह भोग करता रहा, तत्पश्चात बिंबों के माध्यम से वह अभिव्यक्त करं

लक्ष्य बन गया। ७. अपने अस्तित्व के लिए नये कवियों ने मानसिक, काल्पनिक र्ष किया, जिससे क्षोभ, उलझन, कुंठाएँ, व्यंग्य-विद्रूपताओं ने काव्य में स्थान लिया। ८. नूतनता के सर्वग्राही मोह से काव्य में अस्पष्टता, असंतुलन, वैचित्र्य प्राधान्य हो गया।

हिंदी की पर्यवमानप्राप्त प्रयोगवादी काव्यधारा में ये सभी अभारतीय प्रवृत्तियाँ विद्यमान थी। यह आंदोलन पाश्चात्य काव्य से अनुप्राणित हो कर प्रारंभ था जिसमें कई मुल्ले बन कर फतवे पढ़ने लगे। अंत में स्थायी मूल्यों और स्वस्थ धाराओं के प्रभाव में उसका मसीहा पड़ा गया और कतिपय समर्थ आलोचकों के प्रहारों के आगे उसने घुटने टेक दिये।

भारतीय स्वातंत्र्योत्तर-काल में जीवन के विविध पक्षों में ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियाँ लक्षित हुई। क्या कला, क्या साहित्य, क्या बौद्धिकता और क्या आध्यात्मिकता, सभी दिशाओं में नैतिक ह्रास दिखलायी पड़ा है। इस नैतिक ह्रास और पाश्चात्य काव्य से उद्भूत प्रयोगवाद के पारिपार्श्व ने मिलकर जो विपाक्त वातावरण नई कविता को दिया वह वस्तुतः संक्रांतिकालीन कविता के पूर्ण लक्षणों को समाहार किये हुए था। खंडित मूल्यों पर आधारित, पोढ़शी बने रहने की, कल्पित आशामयी कविता को विरासत में बौद्धिकता, दुरूहता, यथार्थवादी अहं अचेतन मन की जटिल ग्रंथियों में उलझे खंड-चित्र का अस्पष्ट और अपरिपक्व भाव व्यंजना करने वाले बिंब और प्रतीक प्राप्त हुए और प्राप्त हुआ मनोवैज्ञानिक उलझा हुआ परिवेश, जिसके मायाजाल में नया कवि उलझता गया।

नई कविता, नाम कितना सार्थक है और कितना निरर्थक, यह विवाद कई लेखकों ने अनेक बार तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किया है। नई कविता के प्रवर्तकों ने विशिष्ट शैली की रचना को नई कविता के नाम से अभिहित किया है। साथ ही परिभाषाएँ भी प्रस्तुत की गयी हैं। लेकिन नई कविता उस कविता का नाम है जो प्रयोगवादी अभिधान से भूषित काव्यधारा का एक विकसित रूप है। एक नये कवि के अनुसार इस नई कविता की परिधि सीमित है और जो स्वयं के बारे में मुखर है। उसकी बानगियाँ नई कविता के नाम से प्रकाशित होने वाले व्याख्यासमन्वित संकलनों से प्राप्त होती है।

लेकिन नई कविता को जिस संकुचित अर्थ में लिया गया है, वह अनुचित है। कविता तो नई वह है जो पुरानी परंपरा से विलग हो कर नये विकास को सूचना देती है। बौद्धिक चेतना, भाव वस्तु, अभिव्यंजना-शैली, प्रत्येक युग में परिवर्तित होती रहती हैं। दूसरे आज जो नई कविता है, कल आने वाले युग के

लिए क्या वह नई रह पायेगी ? अतः नई कविता अभिधानोपयुक्त नहीं है। यह वस्तुतः संक्रांतिकालीन ह्रासोन्मुख कविता है।

नई कविता को ११ वर्ष हो गये। इतना अंतराल किसी भी वाद या काव्य-धारा के विकास को उन्नत शिखर पर पहुँचाने के लिए पर्याप्त है। छायावाद केवल १६ वर्ष की अवस्था में अवसान को प्राप्त हो गया था, परन्तु अवसान से पूर्व वह विकास के चरम शिखर पर पहुँच चुका था। लेकिन इस अंतराल में नई कविता जहाँ से चली थी उसी के चारों ओर चक्कर लगाती रही है। विकास और प्रगति के आंशिक लक्षण तो दूर, साहित्य-जगत में अपना अस्तित्व नहीं बना सकी है। अनेक प्रवृत्त्यात्मक विरोधाभास भी इसमें परिलक्षित हुए हैं, जिनका विचार करना हमारा अभीष्ट है।

अभिनवता बनाम अभिव्यंजना-रूढ़ि

नई कविता को नूतनता का सर्वग्राही मोह विरासत में मिला है। फलस्वरूप नये कवियों ने नूतनता का शब्दार्थ ग्रहण कर मनमाने प्रयोग किये हैं। कितनी ही परम्परा की दीवारों को तोड़ा है, कितनी ही काराओं को ढहाया है। कितनी ही मूर्तियों को तोड़ा है :

> फिर कुछ लोग उठे बोले कि, आइए,
> तोड़ें पुरानी—
> फ़िलहाल मूर्तियां। साथ न दो, हाथ
> ही दो सिर्फ़
> उठा।
> अपनी एक मूर्ति बनाता हूं और ढहाता हूं।
> (रघुवीर सहाय)

नूतनता के नाम पर इन कवियों ने मनमानी की कि कविताओं को हास्यास्पद बना दिया :

> खोखियाते हैं, किकियाते हैं, घुघाते हैं
> घुल्लू में उल्लू हो जाते हैं।
> सभी लुजलुजे हैं, थुलथुल हैं, लिबलिब हैं।
> (रघुवीर सहाय)

और अभिनवता के नाम पर कविताएं पहेलियां बन गयी हैं। उक्त कथन सभी कविताओं पर न लागू हो कर अधिकांश कविताओं पर लागू होता है। अभिनवता के नाम पर नये कवियों ने मूर्तिभंजक का स्वांग कर लिया; ये नये कवि को अपनी पूर्ववर्ती परंपरा से असंपृक्त मानते हैं जो उनके काव्य-बोध में सबसे बड़ा

बाधक तत्व रहा है। इलियट ने भी परंपरा और इतिहास को बहुत महत्व दिया है। उसने पौराणिक ग्राख्यानों से मंडित काव्य प्रस्तुत किये जिसमें परंपरा और इतिहास का पूर्ण सामंजस्य था। लेकिन इन कवियों ने परंपरा को तोड़ने में ही अपनी सार्थकता समझी। लेकिन नये कवि यह भूल गये कि नये और पुराने चक्र की गति समान है। कभी पुराना, नया हो जाता है तो कभी नया, पुराना। नया तभी स्थायित्व प्राप्त कर सकता है जब कि वह परंपरा की गहरी नींव पर आधारित हो। उसकी आधार-शिला परंपरा पर न होने से वह बालू की ढूह की तरह ढह जायेगी। यह सुनिश्चित है कि नवीनता के लिए नवीन भाव-बोध, युग-बोध, भाषा, शिल्प संबंधी प्रयोग अनिवार्य है। इसे काव्य का चिरंतन प्रवाह गतिशील बन कर निरंतर अग्रसर होता रहता है।

जिस अभिनवता को नये कवि अक्षुण्ण बनाना चाहते हैं, वह परंपरा पर आधारित न होने के कारण अभिव्यंजना-रूढ़ि (मैनरिज़म) के रूप में परिणत हो गयी। जिजमान के बालों की भांति सभी दुष्प्रवृत्तियां सामने आ गयीं। अभिव्यंजना रूढ़ि अब वह कांतर और जोंक है, जिससे छुटकारा मिलना नये कवियों को सहज नहीं है। जिन नये प्रतीक और उपमानों को ले कर नई कविता चली, वह वस्तुतः स्वस्थ दृष्टि से सबलित थी परंतु आगे चलकर वे ही प्रतीक, उपमान बार-बार अनेक कवियों द्वारा दोहराये जाने लगे जिससे नई कविता का विकास ही अवरुद्ध नहीं हुआ, अपितु रूढ़ि बुरी तरह व्याप गयी। चक्रव्यूह, अभिमन्यु, जटायु, बौने, अश्वत्थामा, द्रौपदी, द्रोणाचार्य, अर्जुन और कर्ण इत्यादि प्रतीक न रह कर अभिप्रेत अर्थ को व्यंजित करने वाले हो गये। संदर्भीय, प्रसंगानुकूल दृष्टांत बौद्ध धर्म की मूर्ति-पूजा को यदि इस प्रवृति से तुलना कर के देखा जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि नई कविता जिस विद्रोह को लेकर उठी, अंत में उसी से पराजित हो कर उसकी दास बन गयी। उक्त प्रतीकों को अनेक कविताओं में देखा जा सकता है। इससे प्रतीत होता है कि नये कवियों की प्रतिभा चुक गयी। उनका सर्जन खोखला और आकर्षणहीन हो गया। दादुर-रट की प्रवृत्ति से मुक्ति तभी मिल सकती है जब कवि नये क्षेत्रों में प्रवेश कर नयी दृष्टि दें अथवा पुराने को नये भाव-बोध और सौन्दर्य बोध में परिणत कर दें।

मौलिकता बनाम प्रतिकृति

मौलिकता नई कविता की मूल प्रवृतियों में से एक है। शिल्प संबंधी, भाषा संबंधी, भाव संबंधी, एवं सौंदर्य-बोध संबंधी स्तंभ को ले कर नये कवि जिस नये भवन का निर्माण करने चले, वह अनुकृति अथवा प्रतिकृति मात्र रह गया। वस्तुतः कविता में किसी विशेष युग की विशेष परिस्थितियों में कवि कुछ ऐसे तत्वों को

प्रकाशित करना है जिसको पूर्ववर्ती कवि अपनी युग-सीमाओं के कारण नहीं कर सके थे। पूर्ववर्ती कवि के छन्द, अलंकार, शब्द-योजना, बिम्ब, प्रतीक, नये कवि के लिए पुरातन तथा अपूर्ण प्रतीत होते हैं क्योंकि इनके माध्यम से नये युग की बदलती हुई परिस्थितियों में भाव की अभिव्यंजना नहीं की जा सकती है। युग-परिवर्तन के साथ ही कवि की अनुभूतियां, सौंदर्य-बोधात्मक संवेदनाएं नैतिक मूल्य एवं जीवन-मूल्य भी परिवर्तित हो जाते हैं। ऐसे समय कवि को युग-बोध का ध्यान में रखते हुए, युगानुरूप चेतना के साथ, नये जीवन-मूल्यों को इस प्रकार समन्वित करना पड़ता है कि वह दूसरों के लिए मर्यादा हो सके।

लेकिन जिस मौलिकता को लेकर नये कवि आये, उसकी परिणति क्या होगी, इसका उन्होंने ध्यान नहीं रखा। जॉन लिविंगस्टन लोवेस के अनुसार जब काव्य-रूढ़ियाँ निर्जीव हो जाती हैं उस समय नये कवि विद्रोह कर के पुराने नियमों को बिल्कुल अस्वीकार कर देते हैं और नये नियमों का निर्माण स्वयं करने लगते हैं। रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह कर के जो नई पद्धतियाँ निर्मित होती हैं वे स्वयं कालान्तर में रूढ़ि बन कर नई पद्धतियों के मार्ग में बाधा देने वाली हो जाती हैं।

नये कवियों ने भी नये नियमों के निर्माण में नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का परिचय दिया। लेकिन वह कतिपय कवियों तक ही सीमित रही। बाद में नई कविता स्वस्थ काव्यगत प्रकृति का परिचायक न हो कर आंदोलन बन गयी। इस आंदोलन में अनेक अप्रतिभ, दीक्षाहीन अनुकर्ता भी सम्मिलित हो गये जिन्होंने नकल करने में अपने चातुर्य का प्रदर्शन किया। ये मीडियाकर कवि भी सामूहिक भीड़ में सहज ही लब्धप्रतिष्ठित हो गये। शब्द-प्रयोगों की अनुकृति पर डॉ॰ अमुनाथ सिंह ने अच्छा प्रकाश डाला है। (नई कविता, संयुक्तांक ५–६) इस तरह के बहुप्रयुक्त या घिसे-पिटे नारों के ढंग के प्रयोगों के अतिरिक्त समान या मिलते-जुलते शब्द-प्रयोगों की बहुलता भी बासीपन या अनुकृति का द्योतक है, जैसे जलपाखी, बनपांखी, अधा युग, अंधी गली, अंधी प्रतीक्षाओं, अंधी पुश्तियों, अधी आस्थाओं, दिगंबर आस्थाओं, मुमूर्षु यातनाओं, मयूरपंखी जिजीविषाओं, अंजुरी भर धूप, अंजुरी भर चाँदनी, अंजुरी भर फूल आदि।

यह बात नहीं है कि नये कवियों ने इसे स्वीकारा नहीं। अनुभूत होते हुए भी कुछ कवियों ने चुप्पी साध ली। कुछ ने स्पष्ट कह दिया। गिरिजाकुमार माथुर ने इसको अनुभूत करते हुए काफी पहले लिख दिया था, लगता है, जैसे यह सारी सैकड़ों कविताएं एक कवि की लिखी हुई हैं, सिर्फ लेखकों की जगह कुछ काल्पनिक गढ़ कर रख लिये गये हैं, जो अदल-बदल कर छपते रहते है। इसका कारण कि अधिकतर कविताओं में प्रतीक, उपमान, शब्दावली, कथ्य, शैली स्वाभाविक

ढंग से प्रयुक्त, प्रचलित सत्य-वचन जैसे दर्द, मूल्य, कुंठा, प्रभु आदि पौराणिक या महाभारतकालीन सदर्भ, यहां तक कि शीर्षक छापने का ढग और पढने का दर्दभरा, मरमुर्री रोमानी तरीका भी एकसा हो चुका है—तभी काफी कुछ कविताएँ एक दूसरे की कॉर्बन कॉपी सी प्रतीत होती हैं। अनुकरण पुनरावृत्ति को जन्म देता है, चाहे वह अनुकरण स्वयं अपना ही हो। इस नई रूढ़िबद्धता से और पुनरावृत्ति के कारण ही यह आभास होता है कि नई कविता की धारा एक स्थान पर आ कर ठहर गयी है और अब निस्तेज हो रही है।

इस दौरान कविता के आत्मालोचन का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। नये कवि उसी लकीर को पीटते रहे। प्रतिकृति-प्रवृत्ति ही संक्रांतिकालीन कविता का सबसे प्रमुख लक्षण है।

अहं बनाम दैन्य

नये कवि मिथ्या दम्भ के परिवेश से आक्रांत हैं। मिथ्या दंभ ही नये कवियों को आगे बढने से अवरुद्ध कर रहा है। अहं, जो विगलित है, कुंठित हैं, संक्रांतिग्रस्त कविता का दूत है, जो नई-नई पद्धतियों की किंचित उपलब्धियों पर पेंडुलम-सा घूम रहा है और नई कविता के दफनाये धन पर सर्प की तरह कुंडली मार कर फुंकार रहा है। बौद्धिकता से ही अहं उद्भूत हुआ। मानव-मन की जटिल ग्रंथियों की खोज ने उसे उद्दीप्त किया। अहं के नारों को गाय की पूंछ समझने वाले कवि दिग्भ्रम की वैतरणी में घूमने लगे।

जिस अहं की नौका को लेकर नये कवि चले उसमें सहयात्रियों ने दैन्य के अनेक छिद्र कर दिये, जिससे नौका डगमगा गयी। दैन्य या आत्मग्लानि ने मानवीय गरिमासभूत दृढ़ता को विगलित कर दिया। अहं के नारे फीके पड़ गये। लघु मानव के नारे ने उन्हें पथ-भ्रमित करने में सहायता दी। आत्म-स्वाभिमान के विरोधी तत्व ने हीन भावना को प्रादुर्भूत किया। नया कवि दर्द, पीड़ा, कुंठा, आयाम से घिरा हुआ कुत्ता, लाश, जारज, भ्रूण, खंडित बना हुआ है। वह आर्तनाद कर के ...ो रे पिता, हे ईश्वर, ओ रे ओ' के माध्यम से दुख-दर्द कहना चाह रहा हैं। ...र दैन्यप्रवृत्ति ने कविता में जड़ता, हीन भावना, निष्क्रियता को व्याप्त कर दिया है। ...समें दास्य भावना पददलित पीढ़ी का स्वर है। कविता अपाहिज भिक्षुक की तरह ...हाँ-वहाँ दया की भिक्षा माँगने लगी।

...क्तव्य बनाम आत्म-बोध

नई कविता में आत्म-बोध के नाम पर वक्तव्य अधिक हैं। कोई आत्म-बोध

नाम पर व्यंग्य किये जाते हैं। कमकर के टिफिन-कैरियर में पायी गयी महाभिनिष्क्रमण की गाथा गायी जाती है तो डेडलेटर ऑफिस की टोकरी में पड़ा पत्र वक्तव्य देने लगता है।। लावारिस लाश के सिरहाने रखा हुआ ट्रैस्पेंचर चार्ट भी वक्तव्य देने लग गया, तो, परचून की दुकान से प्राप्त डायरी का पृष्ठ क्यों न बोले। इस प्रकार वक्तव्य देने की प्रवृत्ति नई कविता में इतनी अधिक बढ़ चुकी है कि कवि स्वयं ही अपनी कविता की व्याख्या करने लग गया है। कविता भले ही आकार में आधे पृष्ठ की हो परंतु वक्तव्य दो-ढाई पृष्ठ में होता है जो इस बात का परिचायक है कि उक्त कविताएं संवेदन-शक्ति से रहित हो कर पाठक के साथ साधारणीकरण करने में असमर्थ हैं। ऐसी कविताओं को कविता की संज्ञा देना एक सीमा तक अनुचित ही है। जहाँ कवि स्वयं व्याख्या करे वह कविता-काव्य मर्मज्ञों द्वारा निम्न कोटि की मानी गयी है। इन वक्तयों से काव्यगत उपलब्धि भी संदिग्ध है।

जिस वक्तव्य को कवि आत्म-बोध समझ रहे हैं, वे वस्तुतः बहुत बड़ी भ्रांति में हैं। आत्म-बोध होने के उपरांत कवि इन तुच्छताओं मे न फंस कर, अपनी स्फुरणशील काव्य-प्रतिभा का निरंतर विकास करता जाता है। उसकी स्फुरणशील काव्य-प्रतिभा की उपलब्धि असीम है। उसकी अनुभूति कुछ कुछ निर्विकल्प समाधि से अनुभूत सत्य से साम्य रखती है। इस अवस्था के उपरात उसका सौंदर्य-बोध भी परिष्कृत एवं परिमार्जित होता जाता है।

सौंदर्य-बोध बनाम विकृति

नवीन सौंदर्य-बोध और प्रयोगसाध्य नवीन भाव-बोध का फेर नये कवि को सौंदर्य से परे हटा कर विकृति की ओर उन्मुख कर गया है। परंपराभंजक प्रगतिगामी कविता ने जो कुंठाग्रस्त सौंदर्य-बोध अपनाया, वह किसी भी हालत में समाज के लिए उपादेय नहीं हो सकता है। उनका सौंदर्य-बोध योनाशय, आमाशय, गर्भाशय, फ्लॅशलैंडर, टेस्ट-ट्यूब, मडगार्ड, लिपस्टिक, बोतल, हींग-हल्दी, चितकबरी रात में ही उलझ गया है। वह वस्तुतः सौंदर्य-बोध न रह कर विकृति-बोध हो गया है। विकृत एवं जुगुप्साजन्य पर्तों को उघारने मे इन कवियों को वह आनंदानुभूति हुई जो संभवतया घोर कामी को काम भावना मुखर करने में भी न होती होगी।

इसी संदर्भ में परिवेश और परिप्रेक्ष्य दो शब्द विचारणीय हैं। नई कविता के इन शब्दों के साथ आयाम, कुंठा, निराशा वेदना, अवसाद, दर्द मृत्यु, यातना, अवास्था, अहं, भ्रूण, भय आदि शब्दों के माध्यम से मानव को अवसत कर है। परिवेश है सराउंडिंग' और परिप्रेक्ष्य है 'बैकग्राउंड'। नई कविता का पहले ही वर्णित किया जा चुका है, नई कविता उसी से उद्भूत है।

'कम्पाउंड' तो अग्राह्य है ही। इस उपेक्षा के कारण नई कविता भटक रही है और भटकती रहेगी, जब तक कि वह सत्योपलब्धि की ओर उन्मुख नहीं हो जाती।

इस प्रकार संक्रांतिकालीन कविता का 'ओवरहालिंग' होना अनिवार्य है। यह कविता ह्रासोन्मुख रही है। छायावादोत्तर काल से विराट व्यक्तियों का पूर्णतया अभाव है। इस संक्रांतिग्रस्त कविता को पतन के कर्दम से निकाल कर नई दिशा की ओर प्रवृत्त करने वाले युग-प्रवर्तक की प्रतीक्षा है।

११

पिंजड़े में आबद्ध पक्षी और टूटे हुए डैने

चीन में नया साहित्य ४ मई, १९१९ के आन्दोलन से साम्यवादी विचार-दर्शन और उसके नेतृत्व और संरक्षण में विकसित हुआ। पुराने मानवीय मूल्यों की विध्वस्त आधार-भूमि पर माओ-त्से-तुंग कृत 'टाक्स एट दि येनान लिटरेरी मीटिंग'-जैसी कृतियों ने साहित्य को नई दिशा प्रदान की। नई दिशा से अनुप्राणित विचारों ने न केवल साम्राज्यवाद और सामन्तवाद के प्रतिक्रियावादी विचारों पर कुठाराघात किया अपितु बड़े ही गम्भीर्य से पैठे बुर्जुआ विचारों और प्रतिक्रियाओं को तीव्र आलोच्य विषय बनाया। इसी समय प्रोलेतेरियन विचारधारा की शुद्धता और गाम्भीर्य के सुरक्षा का प्रयास सक्रिय एवं सुनियोजित ढंग से प्रारम्भ हुआ।

माओ-त्से-तुंग ने सूत्र-वाक्य के रूप में चीनी बुद्धिजीवियों, कलाकारों, और साहित्यकारों को एक निश्चित साहित्य-प्रयोजन दिया कि उनकी कला, अभिव्यंजना एवं साहित्य-सर्जना सर्वहारा वर्ग के लिए होनी चाहिए। इसी के माध्यम से जन-साधारण से सम्पृक्ति मानी गयी। 'आन प्रेक्टिस' में माओ ने साहित्यकारों का आह्वान करते हुए जीवन की प्रत्यक्षानुभूति पर बल दिया। उसने कहा जीवन से सम्पृक्त, उसके जिये जाने और भोगने में है। सत्य की उपलब्धि और उसकी अनुभूति वैसे ही जीवन जिये जाने से आती है, असम्पृक्ति से नहीं। 'येनान लिट्रेरी मीटिंग' में अपनी धारणा का पुनर्वाचन करते हुए कहा था—'क्रान्तिकारी लेखक को संघर्षक्षमता में, अनुभूति, पर्यवेक्षण और विविध चरित्रों के विश्लेषणार्थ स्थायी तौरपर, बेलाग और वाछित रूप से किसान, मजदूर और सैनिकों के मध्य जाना चाहिए।' इसी सन्दर्भ में फार्मूलिज्म पर आरोप लगाते हुए कहा कि इसमें जीवन की जटिल, वैविध्यपूर्ण, एवं बहुमुखी घटनाओं को सरलीकृत, एकांगी और एकरूपीय ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। इसमें जीवन की अभिव्यक्ति चितकबरी न होकर 'स्टेरियो टाइप' की होती है तथा इसमें न केवल जीवन की घटनाओं का सहजीकरण किया गया अपितु 'राजनीति के यथार्थ' को भी विकृत किया गया। दूसरी ओर फार्मेलिस्टों (रूपवादियों) ने रंगीन कथाओं, कृत्रिम नाटकीय संघर्षों और जटिल कथानकों को व्यहृत कर जीवन की बेलौस रिक्तता की ही अभिव्यक्ति की।

इस विचारधारा के परिप्रेक्ष्य में माओ की अवांछित शंका थी कि जन-साधारण से साहित्यकारों की असम्पृक्ति लेखकों को बुर्जुआ और पेटी बुर्जुआ विचारों से आक्रान्त कर देगी और उनका दास बना देगी। क्योंकि उसके अवचेतन में लेनिन के ये शब्द ध्वनित हो रहे थे कि जन साधारण से असम्पृक्ति पूँजीवादी समाज-द्वारा छोड़ी हुई विकृतियों में से एक विकृति है। केवल प्रोलेतेरियन दृष्टि से ही मजदूर किसान तथा अन्य वर्गों को समझा जा सकता है, क्योंकि यही सच्ची क्रान्तिकारी पद्धति है।

इस आह्वान का परिणाम यह हुआ कि लीयू-पाई-यूङ्का 'ज्वालाएँ' जो सामने हैं,' कू-ली-काओका 'हमेशा अग्रिम दृष्टिपात,' चाओ-पयु-शुनका' 'समुद्र में तूफान'। (रिपोर्ताज), हु-यू-को का 'युद्ध में परिपक्वता' (नाटक) तथा अन्य वे जिन्हें अधिक प्यार किया जाना चाहिये,' 'जीवित नर्क' तथा 'समतलपर आग्नेय क्रोध'-जैसी कृतियों की सर्जना हुई। इन कृतियों में 'स्व' की अनुरक्ति और 'पर' के प्रति वितृष्णा झलकती है। दम्भ, ईर्ष्या, विद्वेष से आपूरित कृतियों के माध्यम से चीनी साहित्य एक हिंसात्मक उद्वेग में पनपता और विकसित होता रहा है।

सहज ही प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या वास्तव में चीनी साहित्य जन-सामान्य से प्रतिबद्ध है या इसका केवल ढिंढोरा-भर है ?

वस्तुतः इन आडम्बरों का खोखलापन अपने केंचुल को फाड़ कर बाहर आ गया है। आज चीन में जन-सामान्य की स्थिति पार्टी के समक्ष नगण्य है। साम्यवादी दल आज सर्वोपरि, अत्यन्त सशक्त है। वहाँ के साहित्यकारों को इसके लिए प्रेरित किया जाता है कि वे दल-हित को प्राथमिकता दें और साहित्य-सृजन दल की नीतियों पर आधृत कर के करें। यहाँ लेखक स्वतन्त्र-विचारक, उदारचेता नहीं है। उसके चिन्तन, मनन दल-द्वारा नियन्त्रित, सचालित एवं संरक्षित है।

आज का चीनी साहित्यकार पिंजड़े में आबद्ध पक्षी है जिसे बाहरी दुनिया के विचारों की हवा छू-भर नहीं पायी है। चीन ने जो अपने चारों ओर दुर्भेद्य दीवार बना दी है। उसको पार कर नव-विचार सिर टकरा कर लौट जाते हैं। विश्व के समाचार सही रूप में आकाशवाणी एवं समाचार-पत्रों के माध्यम से नहीं पहुँच पाते हैं। उनका सैंसर दल-द्वारा होकर अपने दृष्टिकोण से प्रसारित किया जाता है। बाहर के समाचार-पत्रों और पुस्तकों पर कठोर प्रतिबन्ध है। केवल समाजवादी देशों का प्रकाशन और पूँजीवाद देशों के 'बोनाफ़ाइड' समाजवादी पत्र ही वहाँ किसी तरह प्राप्त हो सकते हैं। लेखकों को किसी प्रकार का चिन्तन, मनन करने का अवसर नहीं दिया जाता है। उनका ध्येय दल के आदेशों और कदमों का बिना जिज्ञासा के अन्धानुकरण करने से समबद्ध माना जाता है। साम्यवाद सत्य है; अन्य सर्वांगीण रूप से तथा कुत्सित रूप से असत्य है, इसको न मान कर यदि लेखक

दल के विचारों के प्रतिकूल विचाराभिव्यक्ति करता है तो उसकी कृतिका प्रकाशन ही नहीं होता, यदि किसी तरह प्रकाशन हो भी गया तो उसे कई वर्षों के लिए श्रम या पुन:शिक्षण केन्द्रों में सज़ा काटनी होती है। यदि कैम्पों की यन्त्रणाओं से वह जीवित भी रह जाता है और उसमें लेखक बनने का 'मेनिया' अवशिष्ट रहता है तो उसे विवश कर दिया जाता कि वह दल की प्रतिरंजित प्रशंसा करने में अपनी सृजन प्रक्रिया को होम कर दें।

इस विभत्स माहौल में उन पक्षियों के डैने काट दिये गये हैं। उनकी खौफ़नाक चीखें कण्ठ-गह्वर में घुमड़कर रह गयी हैं। यही कारण है कि चीन में के—सिंग की कहानी 'पुराना कार्यकर्त्ता कुश्रो-फू-सान' की तीव्रतम छीछालेदर हुई और उसे कुत्सित एवं भयावह अपमान का सामना करना पड़ा। इस कहानी का नायक कुश्रो-फू शान का पुत्र कुश्रोचान-हसियां-ग है। वह-रेलवे मजदूरों का योग्य, प्रतिष्ठित और सर्वसम्मति से अनुमोदित नेता था। वर्कशॉप की दस शाखा का सचिव भी। जब अमेरिका ने कोरिया पर आक्रामक रवैया अपनाया और उसके विमानों ने चीनी सीमा पर बम गिराये तो कुश्रो-चान अप्रत्याशित रूप से कायर बन गया। वह मृत्यु के सन्त्रास और बमों की गर्जना से भयाकुल हो गया। जापानियों ने उसे कैद करके उत्तरी मंचूरिया में मजदूर बना दिया। जब जापानियों ने २०० चीनी मजदूरों को मशीनगन की गोलियों से भून दिया तो वह किसी उपाय से बचकर भाग निकला। फिर जब कभी वह मशीन गनों की आवाज़ सुनता तो मृत्यु के सन्त्रास से पीले पत्ते की तरह काँप उठता। उसके पिता ने, जो दल का सदस्य नहीं था, दल से कहा कि उसके अयोग्य पुत्रों को सदस्यता से वंचित कर दें। परन्तु जनरल शाखा का सचिव उदार था, उसने कुश्रो-चान को केवल सचिव पद से अपदस्थ कर दिया। उत्पश्चात् पिता से प्रभावित होकर पुत्र ने भय की अवस्था से मुक्ति पायी और पिता और पुत्र 'हीरो' बन गये।

इस कहानी को पूर्णतया भ्रान्तिमूलक ठहराते हुए उसकी भर्त्सना इस आधार पर की गयी कि इसमें एक साधारण वृद्ध मजदूर की अपेक्षा एक आदर्शवादी पार्टी-सदस्य को हीन बताया गया है, साथ ही पार्टी के सम्बन्धों की अवहेलना करके पारिवारिक सम्बन्धों की महत्ता दिखलायी गयी है। जिसका आशय यह हुआ कि दल सर्वोपरि है। परिवार, पिता-पुत्र, और स्वहित की बातें बाद में हैं।

इसी के समानान्तर चीनी बुद्धिजीवियों ने हेन फँग की कहानी 'यिन चिन-चुंग' को श्लाघनीय माना क्योंकि उसमें दल की कर्त्तव्यनिष्ठा थी और उसकी पताका को बहुत ऊँचा उठाया गया था। इस कहानी का नायक यिन-चिन-चुंग को युद्ध में अनुशासन के नियमों को भंग करने के अपराध में दल की सदस्यता से वंचित कर दिया जाता है।

से उसे बड़ी वेदनानुभूति होती है। वह दल में पुनः प्रविष्ट होने का निश्चय करता और इसके लिए बड़ी से बड़ी कुर्बानी करने को प्रस्तुत हो जाता है। अन्त में राजतक कमीसार द्वारा उसे लौह-पुरुष, दृढ़ एवं निर्भीक के विशेषण दिये जाते हैं। र वह दल का सदस्य घोषित कर दिया जाता है। इस पर वह वक्तव्य देता है—ल-द्वारा प्रदत्त यह मेरे लिए सम्मान है। किसी भी विपिन्नावस्था में दल का चार आते ही मैं अपने में शक्ति का अहसास करने लगता था। अन्यथा मेरा क्या य रह जाता?'

'मेरा क्या मूल्य रह जाता' से स्पष्ट ध्वनित है— वहाँ वैयक्तिक व्यक्तित्व अस्तित्व है। अगर मूल्य निहित है तो दल की सदस्यता में। इसी आधार पर पात्र-धान के बारे में लक्ष्मण-रेखा खींच दी गयी है। यदि कोई सैनिक अपने घर और पनी सम्पत्ति की रक्षा के लिए साहस के साथ लड़ता है, यदि एक कृषक धनिक होने के ए सक्रियता से उत्पादन करता है तो वे चीन के कथा-साहित्य के नये पात्र नहीं हो कते। यदि किसी में इतनी राजनैतिक चेतना है कि वह सामान्य हित के लिए लड़ कता हो और स्वहित को राष्ट्रहित पर बलिदान कर सकता हो, तो वही नया पात्र सकता है।

इस प्रकार के अवरोधों से चीनी साहित्य में भी गत्यावरोध एवं ठहराव आ गया । इसे तोड़ने के कार्य का सूत्रपात चीन में प्रारम्भिक शिक्षा से ही हो जाता है, जिसकी रम परिणति 'रूटीनिस्ट ऐटीट्यूड' (अन्धानुकरण करने वाली प्रवृत्ति) के रूप में ती है। शिक्षा का ध्येय एवं प्रतिमान इस प्रकार के निर्धारित किये गये हैं कि चीन का ामान्य युवक स्वतः ही रूटिनिस्ट बन जाता है। औपचारिक शिक्षा से ही राजनैतिक शिक्षा प्रारम्भ की जाती है। २-३ वर्ष के किन्डर-गार्डन पाठ्यक्रम में क्रान्तिकारी गाने सेखाये जाते हैं जिनमें माओ-त्से-तुंग को पिता मानकर उसकी प्रशंसा की जाती है और अमेरिकन साम्राज्यवादियों को चीनियों का सबसे बड़ा शत्रु बताया जाता है। 'डाउन विथ-अमेरिकन इम्पीरियलिज्म' वहाँ का सुप्रसिद्ध नारा है, और एक लोकप्रिय गीत है :

> समाजवाद अच्छा है,
> समाजवाद अच्छा है।
> समाजवादी देशों की जनता को
> उच्च स्थिति प्राप्त है
> प्रतिक्रियावादी बहिष्कृत
> कर दिये गये हैं,
> साम्राज्यवाद अपनी टाँगों में
> पूँछ दबा रहा है।

इसी से भाव साम्य रखती हुई एई-चिंग-की कविता है :

> चीनियों का सर्वत्र स्वागत होता है।
> संसार हमारे साहस तथा सहिष्णुता को
> अच्छी तरह जानता है।
> साठ करोड़ व्यक्ति अग्रसर होकर
> मार्च कर रहे हैं।
> उन्होंने शान्ति का उच्च और शक्तिशाली
> झण्डा उठा रखा है।

इस प्रकार के कथ्य एवं भावों से साम्य रखती हुई अनेक कविताएँ हैं जो माओ के इस वक्तव्य पर आधारित हैं : 'चीनी जनता, जो मानव जाति की चतुर्थांश है, अब अपने पैरों पर खड़ी हो रही है। हमारी जनता सदैव से महान् साहसी और श्रमशील रही है।'

अमेरिका के साथ चीन का वैधारिक वैमनस्य हो सकता है, न कि सभी स्तरोंपर जन्मजात शत्रुता। फारमोसा और वियतनाम पर राजनैतिक स्तर पर विरोध सम्भव है, पर सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक क्षेत्रों में एक-दूसरे के स्वार्थों में संघर्ष नहीं है। यह धारणा इतनी संस्कारगत हो जाती है कि अवचेतन मन की गहराइयों में उतर जाती है, फिर जो संवेदनाएँ उठ खड़ी होती हैं वे कुछ इस प्रकार अभिव्यक्त होती हैं :

> हे भाई, शीघ्र जागो !
> कितनी गहरी नींद तुम ले रहे हो ?
> दिन की उष्मा में तुम कितने
> थक गये हो ?
> यह जागने का समय है।
> तुम्हें पहले ही काफी देर हो चुकी है
> शीघ्र ही सूर्योदय होने वाला है—
> और दिन निकल आयेगा।

कविता का शीर्षक है—'वह सो रहा है'। आमुख में कवि ने बताया कि अमेरिका के एक हवाई अड्डे के यात्री-प्रतीक्षालय के कॉरीडोर में एक नीग्रो युवक दीवार के पास सो रहा है। एक फ्रांसीसी जब उधर से निकला तो उसने नीग्रो को देखकर मुसकुराते हुए कहा—देखो, वह सो रहा है। इसी से अनुप्रेरित होकर कवि ने संश्लिष्ट पदावली में कविता रच डाली।

घृणा, वितृष्णा, कुण्ठा, ईर्ष्या द्वेष और विकृत ग्रहम् के परिवेश में ये कविताएँ मानवीय विकृतियों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनती रही। कवियों ने सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति की अपेक्षा सतही, अतिरेकी घटनाओं और खोखली विसंगतियों को ध्यान दिया। फलतः काव्य, काव्य न रहकर नारेबाजी और कथा-साहित्य, सप्रत्यय, नयी जीवनानुभूतियों, नयी पकड़, नूतन जीवनदृष्टि नये मानवीय मूल्यों से रहित होकर चीनी-साहित्य अन्य देशों के चिन्तनशील और प्रयोगशील साहित्य के समक्ष बहुत पिछड़ा, सौन्दर्यबोध, भावबोध और मूल्यबोध की दृष्टि से अत्यन्त विकृत प्रतीत होता है।

हाईस्कूल तक शिक्षा 'प्रो रेड बैनर्स', माम्रो और साम्यवादी दल को आज्ञापालन तक सीमित है। विश्वविद्यालयों में प्रवेश का आधार शैक्षणिक योग्यता न होकर 'समाजवादी चेतना' की डिग्री है। 'यूथ पायनियर' और 'साम्यवादी युवक संघ' की सदस्यता के बाद युवक इतना पुख्ता हो जाता है कि वह 'रूटीनिस्ट एटीट्यूड'-से और स्वतः ही अग्रसर हो जाता है। स्वतन्त्रचेता व्यक्ति शंकालु निगाहों का शिकार बन जाता है और यह धारणा बना ली जाती है कि ऐसे व्यक्ति को उच्च शिक्षा हानिप्रद हो सकती है।

इसका परिणाम यह होता है कि उच्च शिक्षा का प्रत्याशी मीडियोकर बौद्धिकता का स्वामी होता है। इस उच्च शिक्षा के दौरान तथा पश्चात् शिक्षार्थी का मानसिक विकास पूर्णतया अवरुद्ध हो जाता है और वह तैलप के वृषभ सा साम्यवादी लाट का बोझ उठाये एक ही मार्ग की खुदाई करता रहता है। सचेतन प्रज्ञा, अन्तःप्रेरित सृजनात्मक विचार-प्रजनन शक्ति व सामर्थ्य के क्षर होने से चीन का बौद्धिक मानसिक नपुंसकता के व्यर्थ बोझ को ढोता रहता है। चाहे किसी भी विषय या संकाय का शिक्षार्थी हो, उसे सप्ताह में चार-पाँच घण्टे राजनैतिक शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक है। इस राजनैतिक शिक्षा के अन्तर्गत मार्क्स, एंगिल्स, लेनिन, और माम्रो-त्से-तुंग को पढ़ाया जाता है। विश्व की राजनीति, राजनैतिक व्यवस्थाएँ मार्क्सवाद की कसौटी पर खींची जाती हैं। मार्क्सवाद चरम सत्य है, पूर्ण सत्य है, अन्य धारणाएँ विकृत एवं अपूर्ण हैं—ऐसा मानकर पाठ्य पुस्तकों की रचना मार्क्सवाद की 'लाइम लाइट' में की जाती है। इसका परिणाम यह हुआ कि महामानव मानकर व्यक्ति-पूजा की प्रवृत्ति आरम्भ हुई। इस समय माम्रो का प्रभाव चीनी कला, साहित्य, शिक्षा राजनैतिक और सामाजिक जीवन पर इतना अधिक है कि दूसरे व्यक्ति स्वतः, अपना अस्तित्व नगण्य मानने लग गये हैं। विज्ञान, तकनीक, सामाजिक विज्ञान, कला और साहित्य में माम्रो और लेनिन की परिभाषाओं के बिना कोई भी व्याख्या करने प्रारम्भ में पूर्ण नहीं मानी जाती है। इसका परिणाम यह हुआ कि कला और साहित्य दोनों ही एक व्यक्ति के निर्दिष्ट मार्ग पर चले जा रहे हैं, पीछे से साम्यवाद की पताका उठाये लेखकों

और कलाकारों का हुजूम चला जा रहा है पर दोनों के मध्य काफी दूरी है, पर यात्रा अबाध तथा अप्रतिहत गति से की जा रही है।

साहित्य और कला प्रशान्त परिवेश के उपजीव्य हैं, या संघर्षों के मोती हैं जो रद्वेलित तरंगों द्वारा फेंक दिए जाते हैं। चीन के निवासी सदैव शिराओं के तनाव में जीते हैं। सत्य यह है कि साम्यवादी चीन के समक्ष अनेक सिरदर्द पैदा करने वाली परेशानियाँ हैं और नागरिकों के पास दल एवं प्रशासन के विरुद्ध शिकायतों का पुलिन्दा है। इस पुलिन्दा को ब्योरेवार न खोल दिया जाये, इसलिए नागरिकों के मस्तिष्क को मोड़ने के लिए एक दहशत पैदा की जाती है कि उनका अस्तित्व सरकार के साथ सहयोग और जनता की एकता पर आधारित है। इस प्रकार एक सामान्य शत्रु को इंगित करके वे जनता का ध्यान आकृष्ट कर देते हैं।

चीन की इस कुत्सित राजनैतिक तितिक्षा का दुष्परिणाम कला और साहित्य दोनों ही भोग रहे हैं। रुन्त्रास और शिराओं के तनाव में जीनेवाले इस बौद्धिक वर्ग की, जो पहले ही मारफिया से निश्चेतन सा है, उपलब्धियाँ नगण्य होती हैं। चीन के नेताओं की बढ़ती हुई महत्त्वकांक्षाएँ, साम्राज्यवाद की नयी अद्भुत संग्रहणी, अणु शक्ति का बढ़ता प्रदर्शन, लिबरेशन की प्रवृत्ति, जो भारत, हिन्द-चीन, अफ्रीका के नवोदित देशों को समानधर्मा देखना चाहती है, ने साहित्यकारों को अनिश्चय के भँवर में डाल दिया है। राजनीति ने साहित्य और कला को इस रूप में आक्रान्त कर दिया है कि साम्पृत्तिक निस्संगता के साथ साहित्यकार और कलाकार अपने को निर्वासित सा और दूसरे देशों से कटा हुआ प्रतीत कर रहे हैं। यह अहसास किया जा रहा है, पर दबाव इतना है कि साँस घुटकर गले में घरघराहट बनकर रह जा रही है। यह साहित्यकारों का हुजूम एक छोटे कुत्ते की तरह टाँगों में पूँछ दबाये, आधा मुँह सिकोड़े, भयभीत और दयनीय आँखों से आक्रामक विशालकाय कुत्ते रूपी दल की प्रत्येक चेष्टा को सजगता से देख रहा है। उसका प्रत्येक अवयव उस बड़ी सत्ता की कल्पना मात्र से भयाक्रान्त होकर निस्पन्द और जड़ हो गया है। कभी कुछ सामाजिक चेतना की लहर आयी तो लाल सेना रूपी उपद्रवी, अबोधिक लड़कों-द्वारा उसका बीभत्स दमन करा दिया गया।

लेकिन यह तानाशाही का कठोर अवरोधमय बाँध, पड़ने वाले आक्रोश जल का दबाव कभी-न-कभी टूटेगा, पर यह इस बात पर निर्भर करेगा कि यह दबाव कितना है, उसमें कितनी गत्यात्मक ऊर्जा है। ये सब बातें इसलिए प्रसंगवश आयी हैं कि चीन में साहित्य को राजनीति से असम्पृक्त करके नहीं देखा जा सकता।

जहाँ तक जन-सामान्य की सम्पृक्ति और उसकी प्रतिबद्धता का प्रश्न है यह भी

क भयानक दम्भ है, एक मुखौटा है, जिसकी आन्तरिक स्थिति दूसरी ही है। माओ ने साहित्यकारों का आह्वान करते हुए सम्पृक्ति को अवश्य प्रसंगित किया। परन्तु चीन में जिये और भोगने वाले जीवन और चित्रित जीवन मे बहुत विषमता है। पहला प्रश्न तो यही है कि चीनी जिस सन्त्रासमय और अभावग्रस्त जीवन को जी रहे हैं, क्या वह जीने योग्य हैं ?

चीनी बौद्धिकों के चारों ओर अवरोधमय जो लोह-परिधियाँ खींच दी गयी हैं उनका उल्लेख पहले हो हो चुका है। सामान्य रूप से बौद्धिक बहसें, विचार-गोष्ठी, शिविर, कॉफी-हाउस, क्लब और विचार-स्वातन्त्र्य के माहौल में जीती हैं, पनपती हैं। विचारस्वातन्त्र्य को एक अवांछित वस्तु मानकर उसका कठोर बहिष्कार तो किया गया ही है, साथ ही चीन मे विचार-गोष्ठी, कॉफी-हाउस, क्लब इत्यादि के अभाव ने साहित्यिक और बौद्धिक स्रोत को सुखा दिया है।

जहाँ १० फीट चौड़े और १२ फीट लम्बे कमरे मे ८ आदमी किसी प्रकार बिना सुख-सुविधाओं के गुजारा करते हैं, जहाँ वर्गभेद की परिसमाप्ति के नामपर दल के सक्रिय नेता किसानों और मजदूरों का शोषण करते हैं जहाँ ये बुर्जुआ लोग सब-कुछ को भोगते हुए इतना सचेत रहते हैं कि कहीं दूसरे वर्ग उसका उपयोग नहीं कर पायें, जहाँ वर्ष मे केवल २ फीट कपड़ा पहनने को दिया जाता हो, जहाँ मांस, दूध, अण्डे, मछली तथा अन्य पौष्टिक पदार्थ केवल स्वप्न-भर हो और जनता का पेट काट के दूसरे देश के गोरिल्लाओं, अपनी सेनाओं पर बेशुमार व्यय किया जा रहा हो—वहाँ के मनुष्यों का जीवन कितना नारकीय है, इसकी सहज कल्पना की जा सकती है। जहाँ साहित्यकार को किसानों से भी नीचा स्थान दिया गया है और यह माना जाता है कि श्रेष्ठ साम्यवादी अशिक्षित और अर्धशिक्षित व्यक्ति होता है, बौद्धिक नहीं—वहाँ के साम्पृक्तिक यथार्थ का चित्रण क्या किसी साहित्यकार और कलाकार ने किया है ? ऐसी विभीषिका, प्रताड़ना, शोषण दमित कुण्ठा, और जिये यथार्थ का वर्णन करने का मुगालता किसी भी साहित्यकार ने नहीं किया। अप्रतिम, निष्प्रभ मेधावी और साम्यवादी दल के क्रीतदास साहित्यकारों से ऐसी अपेक्षा भी नहीं की जा सकती। फिर प्रतिबद्धता एवं अनुभूति की सच्चाई दूर की चीजें हैं।

आज के चीनी साहित्य में कलात्मक सम्भावनाएं समाप्त प्रायः हैं। उपलब्धियाँ नगण्य हैं। अन्तर्दृष्टि और बाह्य दृष्टि अत्यन्त सकुल हैं। वह साहित्य बहता तालाब नहीं, अवरोधमय तलैया का चिर-जल है जो गति और सम्प्रवाह के अभाव में सड़ांध और वितृष्णापरक होने के साथ-साथ बेस्वाद और विरस हो चुका है। ऐसा साहित्य किसी भी दृष्टि से उपादेय नहीं कहा जा सकता। किसी भी वस्तु का मूल्यांकन उपा

१२

मूल्यों की संक्रांति और साहित्य का नगरीयकरण

पाश्चात्य जगत में मूल्यों का विघटन प्रथम विश्वयुद्ध के आस-पास प्रारम्भ हुआ। २० वी सदी के बुभुक्षित युग मे जैसे-जैसे मानव-मूल्यों मे विघटन तीव्रता से हुआ, वैसे-वैसे अनास्था, कुण्ठा, असन्तोष, मृत्यु-बोध, निराशा, और वेदना के स्वर उभरते रहे। विसंगतियो और 'एंग्ज़ाइटीज' के साथ विगत महायुद्धों के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न हुई विभीषिका ने इन स्वरों को बढ़ावा दिया। युद्धो से लौटे आहत और विकलाङ्ग सैनिको की भांति साहित्यकारों की जीवन-निष्ठा, सौन्दर्य-बोध, और अनुभूति मर्माहत हो गई। वैज्ञानिक प्रगति के साथ मूल्यों का विघटन तीव्रता से हुआ। ईश्वर, प्रेम, और मृत्यु साहित्य के केन्द्र बिन्दु न रहे। न्यूटन के ऊर्जा सम्बन्धी सिद्धान्त से अपदस्त हुए ईश्वर को नीत्शे ने जहां मृत घोषित कर दिया, वहां वह सृष्टि का केन्द्र और नियामक न रहा। डार्विन के विकासवाद ने ईश्वर के स्थानापन्न मानव को अपदस्थ कर दिया। इस विघटन मे मार्क्स ने प्रेम को, फ्रायड ने मन और बुद्धि को सापेक्षवाद ने पदार्थ और समय को अवमूल्यित कर दिया। आइंस्टीन और हिसेनबर्ग के अणु-शोधों ने मानव को अस्तित्व के प्रति शंकालु बना दिया।

पाश्चात्य जगत मे इन मूल्यों का विघटन जिस तीव्र गति के साथ हुआ, सका अहसास भारतीय नगरों मे छन-छन कर मन्द-प्रक्रिया के साथ हुआ। यही रण है कि संवेदनशील विधाओं, कविता और कहानी मे उसकी सबही संवेदना ो पकड़ने का प्रयास था और अकविता, भूखी पीढ़ी, दिगम्बर पीढ़ी की कविताओं उसकी चरम परिणति थी।

यह तथाकथित आधुनिकता, टूटते मूल्यों का स्वरूप, औद्योगिकता से ग्रस्त नगरों मे अधिक परिलक्षित होते हैं। महानगरों, सामान्य नगरो, और गांवों में न जीने और भोगने की प्रक्रिया में गहरी खाई हैं। भारतीय महा- रों का जीवन, भौतिकवाद से ग्रस्त, किन्तु आध्यात्मिकता के पिपासु (ऐसा न होता ग्रिन्सबर्ग बीटल्स और बीटल महेश योगी के शिष्य न होते) पाश्चात्य जीवन

की भोंडी नकल है । पर्याप्त जीवन के द्वारा ढोई हुई निर्जीव कड़ियों से मुक्ति पाने
का भरसक प्रयास हुआ है, परन्तु समाज का निकम्मा मध्य वर्ग अभी तक परम्परा
के संस्कारों से जुड़ा हुआ है, जिसमें वर्जनाएं हैं । यह स्वतन्त्रता के बाद वाले
ऊबे पाश्चात्यमनों, और अपने अधूरे परिवेश की विसंगतियों से सख्त नाराज है । महा-
नगर की भीड़ में वह अपने को अकेला पाता है । नेताओं के पड़ोस और कुर्सीतोड़
से उसे चिढ़ है, परन्तु उसका क्रोध दिशाहीन है, अतः एक वर्ग की शक्ति तोड़-फोड़ में
(छात्रों की) दूसरे की शक्ति निस्संग भाव से वैनम्य को सहज भोगने में क्षीण हो रही
है । यह पीढ़ी सम्भोग, समलैंगिकता, 'मास्टरबेशन', हत्या, अभिसार, परकीया के
मानसिक भोग को सहज मान रही है । ये लोग जीवन से असम्पृक्ति का नारा लगाते
हुए यौन-प्रवृत्तियों से जुड़े हुए होते हैं । इनके कथा-पात्र भी वैसे ही हैं । फ्रीलांसर
(रवीन्द्र कालिया, 'ज्ञानोदय') प्रेमिका द्वारा मुर्गे की तरह फड़फड़ाकर आनन्दोपभोग
करता हुआ घर बसाने से अरुचि प्रगट करता है तो कहीं कथानायक सिनेमा के गन्धवाले
कोने में पहुंचकर राहत पाता है, वहीं पर वही लिजलिजी मुस्कान लिए बेवक्त आती
है, तो औरत यह कह कर कि 'आज मेरा दूसरा दिन है' उसे टाल देती है । रात जब
औरत यह वाकया पति को कहती है तो वह उत्तर देता है —'यह तो खुशकिस्मती
समझो कि वह कमबख्त इतना उल्लू साबित हुआ लेकिन मान लो उसने
अगर आगे बढ़कर तुम्हें दबोच लिया होता तो?' (कृष्णबलदेव वैद, 'कल्पना'), कहीं
वह पत्नी के साटन के लिहाफ को देखकर सोचता है सन्ना को ये जांघें (रेशमी) न
जाने कैसी लगती होंगी । उसे तो बहुत अच्छी लगती हैं । (भीमसेन त्यागी
('कल्पना',), कहीं कथा-नारी (ममता कालिया, 'ज्ञानोदय') का शरीर हर समय
एक पुरुष—वजन की मांग करता रहता है । ये जो महसूसते हैं, वही दे रहे हैं ।

ताजा समाचार है, इंगलैंड और अमेरिका के युवकों का दल भारत में भाप
के इंजनों को देखने आयेगा और वह भाप के इंजनों से चालित रेल गाड़ियों पर
सवार होकर सैर करेगा । अजीब विसंगति है, पाश्चात्यजगत यान्त्रिक और तकनीकी
प्रगति में इतना अग्रसर हो चुका है जबकि हम नये और पुराने का अजायबघर बने
हुए हैं । यहां डीजल और विद्युत से चालित इंजन है तो भाप के इंजन भी । वैसी
ही यहां मूल्यों की विसंगति है । दिल्ली में अब भी शंकराचार्य के प्रवचनों को सुनने,
गौ-हत्या बन्द कराने के लिए, सिखों के धार्मिक अनुष्ठानों में सम्मिलित होने के लिए,
लाखों के जत्थे इकट्ठे हो सकते हैं । बम्बई में शिवसेना और मद्रास में तामिलनाडु
की स्थापना हो सकती है । इसी तरह समाजवादी, वामपथी, और अपने को प्रगति-
शील कहलाने वाले नेता, बुद्धिजीवी, और वैज्ञानिक, जब ज्योतिषियों और नजूमियों
से कर्मफल पूछते हैं, तभी यह 'एब्सर्डिटी' परिलक्षित होती है । नये मूल्यों से नारी
समाप्त हुई तथा यौनक्रान्ति हुई । ईमानदारी और नैतिकता का लोप हुआ ।

प्यार भावुकों की हल्की-फुलकी भावना रह गया। वीरता, मूर्खता, देवस्थान यदा-कदा जाने वाले स्थान हो गये। उदार शब्द परम्परावादी और साम्यवादी की तरह हीनत्वसूचक हो गया। आदर्शवाद और धार्मिक जुनून लुप्त हो गया।

जिस अकेलेपन, विघटन, सन्त्रास, यौनकुण्ठा, संभोग, और मृत्यु-बोध का परिवेश सम-सामयिक कहानी और कविता व्यक्त कर रही है, वह युग बोध से कितनी जुड़ी हुई है, यह तो निश्चित 'डिग्री' तक नहीं कहा जा सकता परन्तु उनमें आंशिक सत्य है। वह महानगरों में जिये जीवन का चित्रण है, परन्तु मझोले नगर और गांव अभी इस बोध से आक्रान्त नहीं हैं। इन स्थानों पर महानगरों की जूठन अपने विकृत रूपों में अनजाने ही समा रही है। पुराने मूल्य शनैः शनैः विघटित होते जा रहे हैं, यही सक्रांति साहित्य का वर्ण्य-विषय हो सकती है। गांवों में पुराने मूल्यों और मान्यताओं की सुदृढ़ चट्टानी दीवारें हैं। गांवों में किसी को अकेलापन भोगते हुए या समाज से कटा हुआ नहीं देखा गया। बिरादरी द्वारा हुक्का-पानी बन्द कर देना, वहां अभी तक अभिशाप है। सकट और संघर्ष में अब भी वहां सामूहिक प्रतिरोध किया जाता है। भले घर की बहू-बेटियों को ताक-झांक करने वालों की गांव में मरम्मत भी अविस्मरणीय होती है। वहां ओझा का झाड़ा डाक्टरों की सुइयों से अधिक कारगर समझा जाता है और अतिवृष्टि, अनावृष्टि, में गांव का गांव यज्ञ और पूजा—अर्चन की देवमन्दिर की ओर अभिमुख हो उठता है, वहां अनास्था, मृत्यु-बोध, शंका, निराशा, विसंगति, और कुण्ठा को लगता है कोई स्थान नहीं है। वहां यह कहने वाला कोई नहीं है कि मेरा जन्म ब्रह्माण्ड के एक घटिया नक्षत्र के एक घटिया मुल्क में हुआ और घटिया आत्मीय जनों के बीच रहना पड़ा है। बाढ़, टीड़ी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, ओला, और पाले से जूझता हुआ किसान जितना आस्थापूर्ण होता है उसे देखकर आश्चर्याभिभूत होना पड़ता है। अभी एक नगरीय दर्शक बाढ़ ग्रस्त इलाके को शौकिया रूप से देखने गया। उसे कौतूहलपूर्ण दृष्टि से बाढ़ को देखते भर देखकर एक गांव वाला बोला—'बाबूजी, यहां क्या देखते हो? जरा हिम्मत करके भीतर जाइये, वहां देखेंगे किस तरह पूरे गांव के गांव पानी से घिरे है और यह सरकार""""इन पखेनों से हमारे आंसू पोंछना चाहती है। हमें तो जीवन भर जूझना है। फिर जूझेंगे ही।'

उधर नेता कोलाहल कर देते हैं कि जनता का मनोबल ऊँचा है। परन्तु आज गांवों का माहौल वैसा नहीं है जैसा कि प्रेमचन्द के समय था। तब से गांवों ने अजीब करवट ली है। चिंत्य यह है कि कितने साहित्यकार इस परिवेश से प्रतिबद्ध हैं। उपन्यास और नाटक जैसी अजगरी चाल की विधाओं को छोड़कर, कहानी और कविता जैसी सवेदनशील विधाएं भी इस महासागरीय परिवेश का स्पर्श नहीं कर

पायी है। भारत का तात्पर्य कुछ महानगरों का समाज न होकर ७ लाख गाँवों और ८० प्रतिशत जनसंख्या का समाज है, जहाँ भारत की आत्मा बसती है, जहाँ मूल्यों की संक्रान्ति है, उसको जाने बिना भारतीयता का चित्रण एकांगी है और असंगत भी है। प्रेमचन्द के उपरान्त, किन्ही मात्रा तक, निराला, फणीश्वरनाथ रेणु, रांगेयराघव, शिवप्रसादसिंह और शिवानी ने इस बदलते माहौल के बोध को बाँधने का प्रयास किया है। इनके अतिरिक्त सम-सामयिक लेखन में कोई भी ऐसा सशक्त कथाकार नहीं हुआ, जिसने इस जीवन को जिया हो, आत्मसात किया हो, और प्रमाणिक रूप से व्यक्त किया हो।

आज का साहित्यकार नगरों की भीड़ और मशीनों के कोलाहल के बीच कॉफी हाउस और क्लबों में बैठा हुआ अनुभूतियों और संवेदनाओं को सँजोता है। वे सब सतही, अप्रामाणिक, और किताबी होती हैं। वास्तविक जीवन, विशेषकर ग्रामीण जीवन से उनका सामीप्य नहीं है। उसे झुठलाना आत्मवंचना है, धर्म से विरक्ति है।

यही कारण है आज का साहित्यकार नगरीय संस्कृति में रँगा हुआ जब गाँव जाता है तो अपने को कटा हुआ अजनबी पाता है। गाँव की मिट्टी में वह रस बस नहीं जाता। गाँव को समझने के लिए गाँव वाला बनना पड़ेगा, अन्यथा राम दरश मिश्र की तरह भागता नजर आयगा (वापसी, 'सारिका') या लक्ष्मी नारायणलाल की तरह भौजी-मौजी कह कर औरतों को सहला आयेगा। मात्र आंचलिक शब्द रखने से या सतही अध्ययन करने से शैलेश मटियानी प्रेमचन्द नहीं बन पायेंगे। अपेक्षित है साहित्यकार गाँवों—कस्बों को जाने, जीवन की गहराइयों से रस ले। बीभत्स अन्तर्मुखी प्रवृत्ति, अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों का विघटन और युग की विसंगतियाँ, विकृतियों, को उद्‌भूत कर रही है। वे सत्य होते हुए भी आंशिक सत्य है, तो दूसरा पक्ष जिसमें आस्था, विश्वास, और नियतिवादिता है, भी एक सत्य-खण्ड है, उसे भुलाना अनुचित है, इसका यह लाभ भी होगा कि जिन सँड़ाँध भरी गलियों में वे ऐय्याश मुर्दे घूम रहे हैं, उससे बाहर आकर खुली हवा में साँस ले सकेंगे। यदि ऐसा नहीं हो पाया तो दूरागत भविष्य में इस काल-खण्ड का साहित्य बुलबुले बनकर अस्तित्व खो बैठेगा, क्योंकि इतिहास में २५-३० या ५०-१०० वर्षों का काल-खण्ड अपना विशिष्ट महत्व नहीं रखता है।

———

१३

अहं और अहंवाद

पदार्थ में चेतन का प्रादुर्भाव गुणात्मक परिवर्तन से हुआ। चेतन में जिजीविषा का अहं उसी शक्ति का परिणाम है क्योंकि प्रत्येक प्राणी अपने को विनाश से बचाने का प्रयत्न करता है। वह प्राणी के लिए सहज है। अनुवीक्षण यंत्र से देखे जाने वाले कीटाणु भी स्वरक्षा में लगे रहते हैं। स्व-रक्षा यानी जिजीविषा और संख्या-वर्द्धन यानी प्रजनन जड़ के चेतन होने के गुणात्मक परिवर्तन होने के समय के ही गुणात्मक परिवर्तन हैं। जिजीविषा और रिरिंसा का दूसरा नाम ही अहं है। अहं नितांत निर्भर है—भौतिक पर। भौतिक का विकास ज्यों-ज्यों दुरुह होता जाता है, चेतन का विकास बढ़ता जाता है। चेतन का निरंतर विकास ही अहं का विकास है।

अहंवाद और भारतीय दर्शन

भारतीय दर्शन में अहंवाद की धारणा अत्यंत प्राचीन है। गीता में श्रीकृष्ण ने कई स्थलों पर अहं को अव्यवहार्य एवं त्याज्य माना है। लेकिन उन संदर्भों में अहं, अहंकार है जो दूषित मनोवृत्ति होने के कारण अशांतिदायक है। प्राचीन और मध्यकालीन संतों ने केवल उसी अहं को लिया जो व्यक्ति के लिए बाधा है। अर्थात् यहाँ वह अहं है जो स्वस्थ प्रतियोगिता करता है। प्रकृति की विजय में मनुष्य को वह तृप्ति नहीं है जो जीवित प्राणियों से अपनी प्रशंसा प्राप्त करने में है। मध्यकालीन भारतीय संतों ने जब मनुष्य के अहंकार की निंदा की थी, तब वास्तव में वह भी समाज का उपकार करने की चेष्टा थी, कि व्यक्ति को दूसरों से द्वेष और गर्व नहीं करना चाहिए। पर संतों का दूसरा आधार आत्म-घृणा था, इसलिए लोक को उससे शक्ति नहीं मिली। आत्म-घृणा के कारण समूह और व्यक्ति का सच्चा तादात्म्य नहीं होता। धर्माचार में अहं के विनाश की जो साधनाएँ हुईं, उसका कारण यह है था कि वहाँ अहं और इदं के अभेद में ही परम सत्ता की अनुभूति का विधान था। वस्तुतः यह अहं, मिथ्याभिमान है, आज का अहं नहीं।

परवर्ती भारतीय दर्शन में अहं का संबंध अव्यावहारिक, अविद्या से सीमित आत्मा से जोड़ दिया गया जो मैं और मेरे की भावना को उद्भूत करता है। दर्शन की

दृष्टि से सारी सृष्टि में दो तत्व माने गये हैं—ग्रहं (चेतन, विषयी, भोक्ता), इदं (विषय ग्रर्थात संपूर्ण जगत) । कोई-कोई नैयायिक ग्रात्मा के मन के साथ तादात्म्य होने पर 'ग्रहमस्मि' (मैं हूं) ग्रहं, सब रूप से शुद्ध चैतन्य रूप में उसका ग्रनुभव बतलाते हैं, परन्तु ग्रन्य नैयायिक शुद्ध चैतन्य रूप को प्रत्यक्ष का ग्रविषय बना कर 'मैं जानता हूं' 'मैं सुखी हूं' इत्यादि परामर्श वाक्यों में प्रकटित, प्रत्येक ज्ञान में ज्ञाता रूप से ग्रात्मा को प्रत्यक्षसिद्ध मानते हैं ।

सांख्य दर्शन के ग्रनुसार बुद्धि से ग्रहंकार उद्‌भूत होता है । "सब विषय मेरे लिए हैं', 'मैं ही कार्य करने का ग्रधिकारी हूं' तथा समर्थ हूं' ग्रादि लोकानुभूति ग्रहंकार के स्वरूप हैं । गुण विषमता के कारण ग्रहंकार तीन प्रकार का होता है—वैकृत (सात्विक), तैजस (राजस) ग्रौर भूतादि (तामस) । ग्रद्वैत दर्शन के ग्रनुसार जीव की वृत्तियां उभयमुखी होती हैं । यदि वे बहिर्मुखी होती हैं तो विषयों को प्रकाशित करती हैं ग्रौर जब वे ग्रन्तर्मुखी होती है, तो 'ग्रहं' कर्ता को ग्रभिव्यक्त करती हैं। ऐसी स्थिति में जीव की उपमा नृत्यशालास्थित दीपक से दी गयी है :

> ग्रहंकारः प्रभुः सभ्या विषया नर्तकीवृत्तिः ।
> तालादिधारीण्यक्षाणि दीप साक्ष्यवभासकः ।।

[जिस तरह रंग-स्थल में दीपक सूत्रधार, सभ्य एवं नर्तकी को समभाव से प्रकाशित करता है; ग्रौर इनके ग्रभाव में स्वतः प्रकाशित होता है, उसी तरह साक्षी ग्रात्मा ग्रहंकार विषय तथा बुद्धि को ग्रवभासित करता है इनके ग्रभाव में स्वयं प्रद्योतित होता है ।]

सांख्य दर्शन ग्रौर ग्रद्वैत दर्शन का दृष्टिकोण ग्राधुनिक धारणा के ग्रत्यधिक निकट है । जब व्यक्ति ग्रंतर्मुखी हो जाता है तो ग्रहं उद्‌भासित होने लगता है । यह भी सत्य है कि ग्रहं, बुद्धि तत्व से उद्‌भूत है । मध्यकालीन संत काव्य मे यही ग्रहं ग्रहंवाद बन कर ग्राया है । वहां ग्रहं का ग्रर्थ 'संतत्व' था, परन्तु उसमें यह भावना सदैव थी कि ऐसा करने वाले वास्तव में ग्रन्यों से ऊंचे ग्रौर उद्धारक थे । गीता के कृष्ण में यह ग्रहं था । ईसा में यह था—जब उसने कहा था कि 'ग्ररे मूर्खो! मैं कब तक तुम्हें बचाने ग्राऊंगा? 'बुद्ध में यह ग्रहं था जब वह धर्म प्रचार करने निकले समय उपक से मिलकर बोला था कि मैं सोयी हुई ग्रंधी प्रजाग्रों को जगाने जाता हूं । यह ग्रहं गांधी मे भी था—जब मलाबार पर्वत पर उसने जिन्ना से कहा था कि ग्राग्रो, समझौता करो, करोड़ों हमारी ग्रौर देख रहे हैं, ग्रौर पूना में रेल रोक कर ग्रंग्रेजी सेना ने उसे बंदी बनाया था तब उसने नैंगलेफारसन से कहा था; जा कर दुनियां में कहना कि यह है ब्रिटिश वीरता कि वे ग्रकेले निश्शस्त्र व्यक्ति को इस तरह चोरी से पकड़ सके हैं । इस सारे उद्धारवाद का मूल ग्रहं है । इस ग्रहं के

ही कह सकता है कि 'मैं ही समर्थ हूं' या 'वह (नियंता) मैं ही हूं।'

सन् १८९० में फ्रायड हिस्टीरिया के बारे में खोज कर रहा था। उसे आश्चर्य हो रहा था कि सम्मोहन की अवस्था में रोगी किस प्रकार अपनी दुखद अनुभूतियों को अभिव्यक्त कर देता है जबकि चेतनावस्था में वे विस्मृत हो जाती हैं। तब उसने धारणा बनायी कि अनुभूतियाँ धूल की तरह मस्तिष्क के गुप्त भाग में पड़ी रहती हैं। इस आधार पर फ्रायड ने मस्तिष्क के दो भाग किये हैं: चेतन और उपचेतन। उपचेतन सपने देखने वाला ही दिमाग है। याज्ञवल्क्य ने उसको आत्मा कहा था। इसी उपचेतन में मनुष्य की दमित यौन-आकांक्षाएं समा जाती हैं। यह दोनों का विलय होता है। वह उस पर काबू रखता है। सम्मोहक भी उसी पर काबू रखता है।

ज्ञात चेतन में स्मरण-शक्ति है, नियोजन-शक्ति है, विवेक शक्ति है। परंतु उपचेतन चेतना का और भी दुरूह और उलझा हुआ स्वरूप है, जिसमें ज्ञात चेतन का सारा मानवी लघु संसार, बाह्य विराट संसार को छान कर जो प्रतिबिंब लेता है, वह सब तो उतरता ही है, ज्ञात चेतन की जिजीविषा-उसका अहं-उसकी लिप्सा, उसके अहं का प्रसार, यह सब उसमें सन्निहित रहता है। उपचेतन में व्यक्तित्व के विकास की असाधारण संभावनाएँ हैं; क्योंकि वह पदार्थ का बहुत ही दुरूह और उन्नत चेतन स्वरूप है।

फ्रायड के अनुसार सामान्य वयस्क व्यक्तित्व इड (इदम्) अहं, उच्चतर अहं से मिल कर बना है। अहं से फ्रायड का तात्पर्य उस अहं चेतना से है जो विचार, निर्णय, अनुभव और संकल्प करती है। यह वही भाग है जो भौतिक यथार्थ को ध्यान में रख कर ही तदनुरूप व्यक्ति के व्यवहारों को सर्वाधिक तुष्टि की दिशा में निर्दिष्ट करता है। इस प्रकार अहं 'इड' की इच्छाओं तथा यथार्थ की अनिवार्यताओं में तालमेल स्थापित करता है। यह अपने व्यवहारों के परिणामों से अवगत होता है और यथासंभव व्यक्ति और परिवेश में संतुलन बनाये रखने का प्रयास करता है। इसका नैतिकता, सदाचार, अपराध-भावना से संबंध नहीं होता। ये भावनाएँ 'सुपर ईगो' या उच्चतर अहं से आरंभ होती हैं। उच्चतर अहं व्यक्ति की आलोचना करने वाली प्रमुख शक्ति है। संस्कृति, नैतिकता और आदर्शों द्वारा परिवर्तित एवं संवर्धित यथानुरूप नैतिक प्रवृत्ति द्वारा इसका निर्माण होता है। उच्चतर अहं आंशिक रूप से चेतन में होता है और मुख्यतः अचेतन में।

यहाँ यह बात ध्यान रखने की है कि मन का यह विभाजन भारत में प्राचीन काल से [illegible] रहा है। हमारे यहाँ अन्तःकरण चतुष्टय [illegible] है — [illegible] [illegible] किया जाता है। [illegible]

फ्रायड के बाद जार्ज ग्रोडेक की ग्रहं संबंधी धारणाएँ चिंतनसापेक्ष हैं। ग्रोडेके का रोग संबंधी दृष्टिकोण आध्यात्मिक था। उसने रहस्यवादी सम्प्रदाय से प्राप्य 'मोक्ष' शब्द की विचारपद्धति को ग्रभिव्यहृत किया। उसने ग्रहं को 'दि इट' या इदम् के नाम से ग्रभिहित किया। उसने कहा है—'वैयक्तिक प्राणी का सारभूत; शारीरिक, मानसिक, ग्राध्यात्मिक तथा ग्रन्य शक्तियों सहित सूक्ष्म संसार तथा ग्रंतरिक्ष, जो कि एक मानव है, मैं उसके ग्रहं को ग्रज्ञात तथा शाश्वत ग्रविदित मानता हूं ग्रौर इसको 'दि इट' के नाम से संबोधित करता हूं।'

ग्रोडेक के ग्रनुसार—'इदम् का तात्पर्य सत्य से नहीं है, क्योंकि पूर्ण सत्य के बारे में किसी को ज्ञान नहीं है। . . . मेरा विचार है कि मनुष्य 'इट' के द्वारा ही चेतन है। 'इट' ही निर्देश करता है कि वह क्या करता है ग्रौर क्या करने की ग्रवस्था में है। 'मैं जीवित हूँ,' यह निश्चित घोषणा सम्पूर्ण ग्रनुभूति, 'मैं इट द्वारा जीवित हूँ' की केवल एक तुच्छ ग्रौर छिछली ग्रभिव्यक्ति मात्र है।'

फ्रायड के ग्रनुसार ग्रहं सार्वभौम है। ग्रहं उसके लिए एक संदूक के समान था जिसमें ग्रभिनव गवेषणा के सामने ग्राते ही फ्रायड की प्रतिभा वर्ग तथा उपवर्गों में बँट जाती थी। ग्रोडेक ने ग्रहं को केवल मुखौटा माना है जो कि छल कर प्राणि मात्र को इस बारे में सोचने के लिए विवश कर देता है कि उसकी वर्तमान ग्रवस्था के प्रति वह स्वयं उत्तरदायी है।

इस बारे में ध्यान देने योग्य बात यह है कि ग्रोडेक की स्थापना ग्रौर उपलब्धि ग्रभिनव नहीं है। जिस ग्रनुभूति-प्रक्रिया के दौर से वह गुजरा है, उसे भारतीय दर्शन ने बहुत समय पूर्व पा लिया था। ग्रोडेक ने इदम् पर बल दिया था। भारतीय दर्शन में भाव-वादी पहुँच ग्रहं की प्रधानता तक रही है तो भौतिकवादी पहुँच इदम् की प्रधानता तक।

फ्रायड की धारणा का पुनर्वीक्षण करने वाले एलफ्रेड एडलर का सिद्धांत भी ग्रहंवादी है। ग्रहंवादी धारणा का प्रभाव ग्रस्तित्ववादी चिंतकों ग्रौर दार्शनिकों पर पड़ा। नित्शे का दर्शन ग्रहंवादी ही है जहाँ वह कहता है कि ईसाई वर्ग का नीतिशास्त्र, दास वर्ग का नीतिशास्त्र हैं, शासकों का नहीं। शासक, शक्तिशाली, दुर्दमनीय ग्रौर प्रचंड होता है, जो समाज को ग्रपने विकास के लिए प्रयुक्त करता है। ग्रस्तित्ववादी धारणा से ग्रहंवाद ग्रधिक प्रबल तथा सशक्त हुग्रा।

साहित्य ग्रहं तथा ग्रहंवाद

मनोविश्लेषणकारी तथ्यों से प्रभावित हो कर ग्रहं की धारणा बहुत कुछ परिवर्तित हो गयी। यह परिवर्तित रूप मेसफील्ड के 'रेयनार्ड दि फ़ॉक्स', गाल्सवर्दी

के इन चेतनी डी० एच० लारेंस के 'वीमन इन लव', कैथराइन मैंसफील्ड के 'ब्लिस' में देखा जा सकता है। हालांकि, चिस्कोड मोरेन, वेलामेर के काव्य में इसी अहंवाद की प्रतिच्छाया है। जेम्स ज्वायस के 'यूलिसेज' में तथा वर्जीनिया वुल्फ के 'वेव्स' में भी इसका रूप है। यहाँ तक कि डी० एच० लारेंस के अन्य उपन्यासों में यही परिवर्तित अहंवाद है। तभी उसने एक स्थल पर कहा था 'मेरे उपन्यासों में आपको पुरानी अहम् वृत्ति नहीं खोजनी चाहिए। उनमें अन्य प्रकार की अहम् वृत्ति है, जिसके वैयक्तिक कार्य अज्ञात हैं। उसको स्पष्ट करने के लिए गहन प्रतीक्षा का होना अनिवार्य है।'

दोस्तोंएव्स्की की कृतियों में भी अहं का यही परम्परागत स्वरूप मिलता है, जिस पर मनोविश्लेषणकारी धारणा का प्रवाह है। उसका कथन था—'क्या तुम जानते हो कि मुझे ऐसा प्रतीत होता है मानो मैं दो भागों में फट गया हूँ...इनमें एक विचारवान है, विवेकी है; लेकिन दूसरा भाग अयुक्तियुक्त कार्य करने के लिए विवश करता है।'

फ्रायड के अहंवाद ने व्यापक रूप से साहित्य को अतिक्रांत किया। कहीं 'स्व' प्रबल हुआ, कहीं 'पर'। सन् १९१४ में फ्रायड से प्रभावित अभिनव अहंवाद का सूत्रपात हुआ, जिसने ज्योर्जियन परंपरा को पूर्णतया लुप्त कर दिया। एज़रा पाउंड तथा इलियट ने सर्व प्रथम दीवारों को तोड़ा। अच्छे कवि न होते हुए भी एर्डलिंग्टन तथा फ़्लिंट ने उन्हें सहयोग दिया। इलियट और ऑडेन की उत्तरार्द्ध की कविताएँ फ्रायड के अहंवादी दृष्टिकोण से प्रभावित हैं 'लव सांग ऑफ प्रफ्रोक' में अहं और इदम् दोनों को इलियट ने प्रमुखता दी है :

> तब हम चलें, तुम और मैं
> जब संध्या पड़ी हो निढाल पृष्ठ भूमि में आकाश के
> बीमार की तरह
> टेबिल पर 'ईथर' से अचेत।

यदि इस युग के कलाकार अपने व्यक्तित्व का अतिक्रमण करने लगे और यह स्वीकारें कि उद्देश्य केवल आकांक्षाहीन अवस्था तक पहुँचने के लिए एक आकांक्षा है और अह से परे जाने के लिए इच्छा मात्र है तो कला आध्यात्मिक हो जायगी या पूर्णतया मृत हो जायगी। यह सुनिश्चित है कि वह नव्य रूप में परिणत हो जायगी। संतोष इस बात का है कि पश्चिम की कला अभी तक अहं तथा व्यक्तित्व पर आधारित है। लेकिन दार्शनिक और वैज्ञानिक अन्वेषणों के फलस्वरूप अहं छितर गया था। तथा टी० एस० इलियट ने उसे पुनर्गठित करने तथा उसे नया रूप, नयी सज्जा नया मूल्य प्रदान करने के लिए अनुभूति की। यद्यपि स्टीफ़ेन स्पेंडर इसकी पहले ही अनुभूति कर चुका था :

मैं कभी नहीं हो सकता महान।
दुर्बलताएँ हैं इस विख्यात महान में
मित्रों के बीच दुर्बलताओं के लिए विशिष्ट है जो
भोजन के समय उसका चिड़चिड़ापन
उसकी घृणा प्रत्याख्यात होने के प्रति
मित्रों को परिधि से उठ
सश्लिष्ट आत्म-प्राप्ति की
अपनी एकमात्र वास्तव अभिलाषा को भूल कर।
केंद्रमान मैं' को घेरे है:
'भोजन करता मैं', 'प्रेम करता मैं', 'क्रुद्ध मैं', शौच-उद्यत मैं'
और उसमें रोपित 'विराट मैं' का
इन सबसे कोई संबंध नहीं।

'कामायनी' का मनोवैज्ञानिक आधार भी फ्रायड की मान्यताओं से अनुप्रेरित है। कामायनी का मनु या मन, अहं का प्रतिनिधित्व करता है क्योंकि मन के चेतन और अचेतन अंगों में अहं आंशिक रूप से विद्यमान रहता है। कामायनी की इड़ा (बुद्धि) इड या इदम् का प्रतिनिधित्व करती है तथा श्रद्धा उच्चतर अहं का या निर्णयात्मक बुद्धि का। सांख्य दर्शन के अनुसार बुद्धि से अहंकार का उद्भव होता है वैसे ही मनु (मन) का संसर्ग इड़ा (बुद्धि) से होने पर अहंकार उद्भूत होता है जिससे वह इड़ा पर आधिपत्य या व्यभिचार करना चाहता है। श्रद्धा (सुपर ईगो) उसे सत्पथ पर लाती है। दूसरे स्थल पर असत् पक्ष के आकुलि-किरात के नियमन से मनु भटकते हैं और अधिकार, ऐश्वर्य, सुख, ईर्ष्या की भावना प्रबल हो उठती है।

यही दॉस्तों-ए-वस्की का दूसरा अविवेकी पक्ष है और गीता में श्रीकृष्ण द्वारा कथित अहंकार की वृत्ति। यही रावण, चंगेज खाँ, हिटलर, नेपोलियन और माओ-त्से-तुंग की बलवती लालसा है।

पाश्चात्य काव्य और दर्शन से अनुप्राणित हो कर हिंदी की नई कविता में अहंवादी प्रवृत्तियाँ बड़े वेग से व्यक्त हुई हैं। इसके परिप्रेक्ष्य में पाश्चात्य परिस्थितियाँ कार्य कर रही थीं। वैज्ञानिक आविष्कारों और बौद्धिकता के फलस्वरूप तार्किक शक्ति प्रबल हुई। तार्किक शक्ति ने द्वंद्व और अनैतिकता को जन्म दिया। ईश्वरीय अनास्था और नैतिक बंधनों के शैथिल्य ने अहं के परिष्कार को आधार-भूमि प्रदान की। मानव-मूल्यों के विघटन से खंडित व्यक्तित्व अहं का आश्रय पाकर अनेक रूपों में मुखर हुआ। व्यक्तिवाद और स्वच्छंदतावाद उसी के रूप थे। मनोविज्ञान का आश्रय पाकर अहं की भावभूमि और भी विस्तृत हो गयी।

'तार सप्तक' के संकलनकर्ता, कवि और भूमिका-लेखक अज्ञेय ने 'तार सप्तक' में अपने अहं को स्वीकारा है। यह भी घोषित किया कि 'तार सप्तक' के सभी कवि अहं के प्रति निष्ठावान थे। यह प्रवृत्ति 'तार सप्तक' के अन्य कवियों के काव्य में तो उतनी परिलक्षित नहीं होती है, परन्तु अज्ञेय के काव्य में अवश्य है। क्योंकि अज्ञेय हिंदी का ऐसा गद्य लेखक और कवि है जिसने पाश्चात्य साहित्य से बहुत कुछ लिया है।

'इत्यलम्' में अज्ञेय स्वानुभूति के सत्य और आत्म-सजगता के प्रति सचेतन रहा है। कभी वह रचना के दावी आततायियों को ललकारता है तो कभी व्यक्तिवादी अहं की अपेक्षा सामाजिक अहं को अधिक श्रेयस्कर समझता है। कभी उसका नटखट अहं मनोज्ञ हो उठता है, तब उसका अहं जनकल्याण की ओर अभिमुख हो जाता है। यह दीपवत बहता हुआ आलोक-विस्तार करने को तैयार हो जाता है। अज्ञेय के अतिरिक्त प्रभाकर माचवे, विजयदेव नारायण साही और सर्वेश्वर में कहीं-कहीं अहंवाद का स्वरूप मिलता है।

नये कवि में अहं का आविर्भाव आत्मविश्वास के फलस्वरूप होता है। यह अहं कल्याणकारी है। कुंठाग्रस्त, मिथ्या या ह्रासोन्मुख नहीं है। इसमें कवि का आत्म-विश्वास, आत्म-शक्ति, आत्म-चेतना और आत्म दृष्टि सजग होकर मुखरित होती है। मानवता को विसर्जन, उदात्त भावना तथा चेतना का परिचायक है। कवि की ऊर्ध्वोन्मुखी अहं चेतना उसे स्वस्थ समाजोन्मुखता की ओर प्रेरित करती है।

अहं अपनी कतिपय विशिष्टताओं के कारण ग्राह्य है। नई कविता में उसका प्रादुर्भाव नवचेतना, नव आयामों, परिवेश की स्थापना में सहायक बनकर आया है। मानवीय संवेदनाओं को जागरूक बनाये रखने, प्रज्ञा के सचेतन में, व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा में अहं अनिवार्य तत्त्व के रूप में कार्य करता है। अहं का सत्य ही आत्मानुभूति का सत्य है। उसकी अनुभूति प्रज्ञा की अनुभूति है।

प्रत्येक सजग कलाकार अपनी आस्था, आत्मविश्वास, स्वाभिमान की रक्षा के लिए अहं का आश्रय लेता है। सत्य के अन्वेषण में भी अहं का जागरूक रहना अनिवार्य है। यह निश्चित है कि कलाकार या कवि में जब अहं निष्क्रिय होता है तो उसका कृतित्व भी कुंठाग्रस्त, सविकार तथा ह्रासोन्मुख होता है। यदि कवि का अहं कुंठित है या अन्य कारणों से उसमें गत्यावरोध आ गया है तो सृजन-शक्ति में भी आत्मोपलब्धि की क्षमता न होने से उसका सर्जन कच्चे घरौंदे से बढ़कर नहीं होगा। कवि को आत्मोपलब्धि का साक्षात्कार अहं के माध्यम से हो सकता है। इसके लिए कवि को स्वतन्त्र और निर्द्वंद्व होना आवश्यक है।

सर्जन शक्ति में कलात्मक पक्ष की भी अपनी गरिमा होती है। कलात्मक पक्ष की अभिव्यक्ति, सर्जक की आत्म-चेतना, आत्म-संवेदन और वैयक्तिक अभिरुचि पर निर्भर होती है। यह अभिरुचि अहं की प्रबुद्ध चेतना पर आधारित होती है। अतः इस दृष्टि से भी अहं का अस्तित्व सर्जक के लिए अनिवार्य हो जाता है।

अहं तभी विसंगतिपूर्ण होता है, जब वह कुत्सित, असमाजोन्मुख और विरूप होता है। विसंगतियाँ तभी उठती हैं, जब कि इदम् और अहं में परस्पर घोर विरोध होता है। स्वस्थ स्थिति में इन दोनों का संतुलन बना रहता है। वैसे कुछ अहं की व्याख्या स्वार्थमूलक आक्रमकता से करते हैं।

वस्तुतः ऐसा नहीं है, क्योंकि मनुष्य अपने व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा अहं के माध्यम से करता है। इसमें बाधाएँ उसको उद्वेलित कर देती हैं, जिससे वह विद्रोही हो जाता है। आज की भूखी पीढ़ी, दिगंबर पीढ़ी और बीटनिकों का फलसफा इसी तथ्य पर आधारित है।

बुद्धिमान का अहं बहुत सजग होता है। कार्ल मार्क्स ने उस अहं को नहीं देखा था। उसने सोचा था कि संपत्ति के कारण अहं है। वह नहीं समझा कि अहं का एक रूप संपत्ति ही है। बुद्धि और समाज-व्यवस्था, दोनों का संतुलन सदैव चला हो, सो बात नहीं। मानव-समाज में विभिन्न स्तरों पर बुद्धि मिलती है। संपत्ति जब नहीं थी, तब भी अहं था, पर कम था। वह धीरे-धीरे विकसित हुआ है। अहं का विकास जिजीविषा और रिरिंसा का विकास है। उसे निरंतर विकसित और व्यापक बनाने में ही लोक-कल्याण है। अधिकार की तृष्णा उसी का रूप है। मनुष्य में जीवित रहने की लालसा अन्य प्राणियों की तुलना में बलवती है, तभी तो वह इतने सशक्त रूप में सभी प्राणियों पर छाया हुआ है। उस अहं का व्यक्ति रूप दूसरों के लिए यदि घातक है, तो उसे व्यापक बनाना मनुष्य के लिए बहुत आवश्यक है, क्योंकि इसमें वह अपनी योनि को दीर्घकाल तक सुरक्षित रख सकता है।

———

१४

आज की कविता में आज का आदमी

(अकविता और तत्कालीन नई कविता के सन्दर्भ में)

आज की कविता से मेरा आशय-हिन्दी में लिखी जाने वाली सम-सामयिक कविता से है। उसमें चित्रित आज के आदमी का स्वरूप और वायवी रेखाएँ अपने आप में एक दिलचस्प विषय है।

आज की कविता के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी की प्रयोगशील कविता नये आयाम, नये प्रतीक और नये उपमानों की खोज में इतनी तल्लीन हो गई कि समसामयिकता से कटकर वह शिल्प के प्रति अधिक जागरूक हो उठी थी। यही कारण है 'सप्तकों' की कविता सन् ४२ के आन्दोलन और भारतीय इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटना—'भारतीय स्वतन्त्रता', के प्रति आंख बन्द किए रही। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर २०वीं शती में वैज्ञानिक अन्वेषणों से उत्पन्न मूल्य-विघटन की स्थिति को यथावत् महसास कराने वाले कवियों ने आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था जन्य विसंगतियों और महायुद्धों के परिणामस्वरूप जन्मी विभीषिका से त्रस्त मानव को 'अन्धा युग' और 'आत्मजयी' जैसी कृतियों में चित्रित तो किया, किन्तु उस कविता का आदमी राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याओं के प्रति जागरूक नहीं था, क्योंकि उसकी वैयक्तिक चेतना राष्ट्रीय स्तर की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अधिक विचर रही थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद का आया हुआ नेहरू-युग का कविताई व्यक्ति बड़े-बड़े बांधों, पंचवर्षीय योजनाओं, सहकारिता और समाजवाद के नारों से इतना मोहग्रस्त हुआ कि इन नयी योजनाओं के साथ वह काव्य के नये क्षेत्रों को खोजने लगा। लेकिन यह स्थिति अधिक समय तक नहीं रही। शीघ्र ही कविताई व्यक्ति का मोह भंग हुआ। महँगाई, अकाल, बाढ़ सूखा, बेरोजगारी और बाजार से गायब होते हुए अनाज से त्रस्त होकर वह आक्रोशी बन गया :—

> मैंने इन्तजार किया
> अब कोई बच्चा
> भूखा रह कर स्कूल नहीं जायगा।

श्रौर कोई छत बारिश में
नहीं टपकेगी ।
श्रब कोई किसी की रोटी नहीं छीनेगा
कोई किसी को नंगा नहीं करेगा
श्रब वह जमीन श्रपनी हैं
श्रासमान श्रपना है
जैसे पहले हुश्रा करता था ।
सूर्य, हमारा सपना है
मैं इन्तजार करता रहा
इन्तजार करता रहा
इन्तजार करता रहा
जनतन्त्र, त्याग, स्वतन्त्रता
सस्कृति, शान्ति. मनुष्यता
ये सारे शब्द थे
सुनहरे वायदे थे
खुशफहम इरादे थे । (धूमिल)

यह मोह-पालन नेताश्रो की मीठी लोरियो से जन्मा श्रौर युग-बोध की कर्कश चीखों से टूट गया :—

मगर एक दिन मैं स्तब्ध रह गया
मेरा सारा धीरज
युद्ध की श्राग से पिघलती हुई बर्फ में
बह गया ।
मैंने देखा कि मैदानो मे
नदियों की जगह
मरे हुए साँपों की केंचुलें बिछी हैं
पेड़—
टूटे हुए टँडार की तरह खड़े हैं
दूर-दूर तक
कोई मौसम नहीं हैं
लोग घरों के भीतर नगे हो गये हैं
श्रौर बाहर मुर्दे पड़े है
विधवाएँ तमगा लूट रही हैं ।

वन-महोत्सव से लौटी हुई कार्य प्रणालियाँ
अकाल का लंगर चला रही हैं। (धूमिल)

कविता का व्यक्ति 'निहिलिस्टिक' प्रवृत्ति अपनाकर विद्रोही हो उठा। उसे लगा 'जो जहाँ है, सब बीमार है। सभी को किसी न किसी तरह का बुखार है।'
(कैलाश वाजपेयी)

सन्, ५४ से लेकर पाकिस्तानी घुसपैठ तक इस मोह-भंग ने कविताई-व्यक्तित्व को परिवेश के प्रति जितना जागरूक बनाया, उतना पहले कभी नहीं। नेताओं के गलीज चेहरों से नकाब पलट गई। उनका वास्तविक रूप सामने आने पर लगा कि स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग लेने वाली पीढ़ी ने एक वज्र-कपाट को तोड़कर एक आततायी साम्राज्य को ढहाया तो था, परन्तु बहुत दिनों तक विध्वंसरत रहने के कारण उनके हाथों से निर्माण की शक्ति विलुप्त हो गई थी। सत्ता के जखीरे में जो लूट-पाट मची, उससे कविताई मानस विक्षुब्ध ही हुआ :—

निर्माण के नाम पर भी वे विध्वन्स करते रहे
लूटते रहे—बाँटते रहे—अपना घर भरते रहे।
मायावी सबकी बुद्धि हर लेता है
उन्होंने हम सबको श्रद्धा-मूढ़ कर दिया था
हम भूखों मरते रहे
परन्तु उनका जय-जयकार करते रहे,
कोरे कागज पर
समृद्धि का पाठ पढ़ते रहे
खुदने से पहले सूख जाने वाली नहरों से
अकाल की खेती करते रहे (रवीन्द्र भ्रमर)

ऐसी स्थिति में कवि आत्म-यंत्रणा से छटपटाने लगा। उसकी विवशता है कि घृणा और विरक्ति में फँसे होने पर भी जीना पड़ता है। प्रत्येक दर्द से कतराते और धड़कते हुए, मृत प्रायः होकर पड़े रहना पड़ता है। इससे कोई मुक्ति नहीं है। वह इस व्यवस्था से इतना परेशान हो उठा है कि उसकी स्थिति बौखलाये हुए व्यक्ति के समान हो उठी है :—

इससे पहले कि पागल हो जाऊँ
चढ़ बैठूँ गरदन पर
हाथ में जहर बुझा कोड़ा लिए हुए

सड़ासड़ मारता चला जाऊँ
रुकूँ नहीं नहीं नहीं

× × × ×

मैं इस व्यवस्था से बुरी तरह घबरा गया हूँ
जिन्दा बना रहने का दर्द
और दर्द के एहसास पर शर्मिन्दा
मैं काफी रह लिया जिन्दा
अब नहीं होता क्या करूँ (कैलाश वाजपेयी)

'क्या करूँ' की अवस्था ने विद्रोही कवि को आत्मरति की ओर उन्मुख कर दिया। क्लीव सभ्यता, विकृति, विघटन, टूटन, और मूल्यहीन स्थिति ने कविताई मनुष्य को इतना तोड़ दिया है कि वह विसंगतियों में विनाश और ध्वंस के माध्यम से आनन्द की खोज रहा है। वह आत्म-रति की इस सीमा तक पहुँच चुका है कि उसे जिन्दगी दुर्घटना, मौत, व्यभिचार और हाहाकार प्रतीत होती है :—

जिन्दगी
दुर्घटना, मौत, व्यभिचार
हाहाकार।
बाथरूमों से
मिथुनरत
क्षणिक सहवास
शिथिल, श्लथ
सुख
केवल स्खलन
नहीं बजेगा
सभोग पर कोई सायरन
अब। (सुरेन्द्र अरोड़ा)

इस विद्रोही व्यक्तित्व के आज की कविता में दो रूप हो गये। एक रूप [illegible]ये हुए सूर्य को गाली देने वाला' था तो दूसरा कापालिकता की ओर उन्मुख होने [illegible] सूर्य को गाली देते-देते कवि 'किसी तिलस्म को न खोज पाने के कारण रोज [illegible]लयों' और अनाम रास्तों से उठाई गई औरतों को आँखों और नितम्बों से [illegible] करने लगा :—

किसी तिलस्म को न खोज पाने का आक्रोश

रोज वेश्यालयों और अनाम रास्तों से उठाई गई औरतों की
जांघों और नितम्बों के मर्दन से भी शान्त नहीं होता।

मर्दन और संभोग में फंसा कविताई व्यक्ति निरर्थकता और खोखलापन का अहसास करने लगा। 'कुछ न कर पाने की' मजबूरी उसकी नियति बन गई। कितनी अजीब बात है कि वह आदमी शहर देश या प्रेम की चर्चा करने की अपेक्षा औरतों के बदलने का इन्तजार करने लगा (सौमित्र मोहन)। उसके आक्रोश के भान ने उसे बता दिया कि आज का आदमी न कमंद है, न कवच, और न बैसाखी। उसका गुस्सा जनमत की चढ़ी हुई नदी मे एक सड़ा हुआ काठ है। (धूमिल)

सत्रास, भ्रष्टाचार, भुलावा और छल ने कविताई व्यक्ति को पूरा कापालिक बना दिया। यौन-सम्बन्धों, और नग्न-चित्रों में उसका रुझान बढ़ने लगा। जब उसे 'बाकी शहरों में राजनैतिक वेश्याओं द्वारा अपनी देह को उजागर करने के लिए फैलाया हुआ पीला, मटमैला अन्धकार नजर आने लगा' तो वह 'मरी हुई औरत के साथ संभोग' करने लगा। सभी औरतों के सोने की इच्छा बजबजाने लगी। उसे लगा सारी व्यवस्था खुर्राट-वेश्या के सिफलिस सड़े अंग विशेष सी नुची-चिथी बजबज हो चुकी है। अतः और कुछ न कर पाने के कारण वह दोनों हाथों से अपने लाल-लाल मर्द को रगड़ने लगा। उस कविताई व्यक्ति के लिए यौन-सम्बन्धी भावनाएं सहज हो उठीं :—

स्तनों को रौंदते पागल कदम
खरोंचे जख्म पर
मृत मछलियाँ
औरतों के कटे-नुचड़े ध्वस्त अंगों पर
शिश्न की परछाइयाँ

शिश्न, योनि, स्तन, फ्यूरापैक के पैकेट, सम्भोग, रति-क्रिया, उसके लिए सामान्य प्रयुक्त शब्द हो गये :—

औरत की सींवन उधेड़कर उसने गर्मजल से अपना
शिश्न धोया और वद कमरे में घुटती सांस में कुछ मन्त्र
पढ़ने लगा या कोई वसीयत किसी की संतुष्टि के लिए।
(सौमित्र मोहन)

विद्रोह, जो समस्त व्यवस्था को बदलने के लिए प्रतिरोधात्मक रूप मे होना चाहिए था अब वह नारी शरीर के प्रति होने लगा। यह उस कविताई आदमी का हद दर्जे का कमीनापन था। उसके कमीनेपन की समता उस कायर पुरुष से की जा [illegible] है जो दफ्तर या कारखाने में अफसर से डॉट खाने के बाद अपनी औरत के

शरीर मे हिंसक बदला लेता है। वास्तव में यह आत्म-रति में लीन कापालिक व्यक्ति आज के व्यक्ति का सही प्रतिनिधित्व नहीं करता है। आज के भारतीय समाज का मध्यवर्ग, जो चेतन है, प्रबुद्ध है, कस्बों, मझोले नगरों, और महानगरों में पेट के लिए इतना दुर्घट संघर्ष कर रहा है कि यौन-भावनाओं के प्रति उतना मुक्त व्यवहार या कामता उस तीव्रता से महसूस नहीं करता, जैसा कि कविताई आदमी कर रहा है। पेट भरा होने पर ही मस्ती सूझती है। आत्म-स्वीकृति के स्वर मे बोल रहा कविताई-व्यक्ति एक ऐसे आदमी की 'डमी' प्रस्तुत कर रहा है जो कुछ कर गुजरने के बाद आत्म स्वीकृति या तो लंगोटिया यारों में करता है या मजबूरन कोर्ट मे। कविताई-बकवास मे नहीं। आज के आदमी का वास्तविक विद्रोह या तो हिंसा में परिणत होता है या विध्वंस में। कविताई-आदमी की तरह यौन-विद्रोह या चोली-विद्रोह में नहीं। न वह जांघों के जगल में इतना भटक रहा है। इस भयाक्रांत आदमी का भयावह चित्रण भी उतना जिज्ञासामय कदापि नहीं है जैसा कि मोनागुलाटी ने चित्रित किया है :—

वह हर तुच्छ-से-तुच्छ बात की एवज में अपनी पत्नी की हत्या का सपना देखने लगता है। उसने एक दिन कबूतरी के निचले हिस्से में परो के बीच कुछ खोजा था। (कोई भी मादा जानवर उसे आकर्षित कर सकती है)। और एकाएक डायरी उठाकर दस रुपये घण्टा पर मिलने वाली बाजारू औरतों के काल्पनिक चित्र खींचते हुए अपनी पत्नी को नंगा कर दिया था (यूँ पत्नी को नंगा करना एकदम साधारण बात है) उसे जिस्म चाहिए और वह जिस्म किसी भी औरत का हो सकता है (अंधेरे में शकल की पहचान कोई मायना नही रखती)

अत्यन्त कामुक व्यक्तियों से मादा जानवरों के साथ किए गये काल्पनिक सम्भोग की बातें सुनकर उतना विस्मय नहीं हो सकता, जितना मोना गुलाटी की कविता के चित्रित आदमी के स्वरूप को पढ़कर। यह आदमियत का ह्रास आज की कविता का सार्वभौम स्वर न होते हुए भी, एक वर्ग का विशिष्ट स्वर है। इस कापालिक-जाल को छिन्न-भिन्न करके अनेक कवि 'स्वस्थ आदमी' को चित्रित भी कर रहे हैं :—

> मेरे मित्र, नग्नता पर कविताएँ लिख सकते हो,
> भोग नहीं सकते. सब स्त्रीलिंगों-पुल्लिगों के
> द्वारों पर भारत सुरक्षा का ताला जड़ दिया गया है,
> महावारी खाते ये सारे दिवालिया हैं तुम्हारे

मैं मानसिक मैथुन में विश्वास नहीं करता।
शायद इसीलिए मेरा पौरुष रहता है उत्तेजित।
(राजीव सक्सेना)

इस विद्रोह का एक स्वरूप अस्वीकार और असन्तोष में प्रतिफलित हो रहा है। कविताई व्यक्ति न किसी से प्रतिबद्ध है और न वह मूल्यों को स्वीकारता है। मूल्यों को नकारने में अपनी सार्थकता मान रहा है। नैतिक वर्जनाओं को वह ताक पर उठाकर रख देता है। उसके सामने न अतीत है, न भविष्य। वह जिये हुए समय के कटु यथार्थ से संघर्ष कर रहा है। यही कारण है उसकी नियति परिवेश के बुने गये ताने-बाने में इस कदर उलझ गई है कि उससे वह निष्कासित न होने के कारण छटपटा रहा है। पारसी के नकली मुखौटे, देश का भिखारी-नेता, बाहरी दबाव में जितना झूठा स्वाभिमान उसमें नपुंसक आक्रोश पैदा कर रहा है। वह कविताई आदमी अपने को २०वीं सदी का नपुंसक व्यक्ति मानता है, जिसकी आवाज रेत की ढूह में खो जाती है। इतना सब होते हुए भी उसके विद्रोह में वह तल्खी और रोष नहीं है जो क्रांति या परिवर्तन को दिशा दे सके, क्योंकि वह कविताई आदमी सबको नकारता हुआ परिवेश से कटा हुआ है। वह राजनैतिक आर्थिक, उथल-पुथलों को भोगता हुआ भी उन्हें जन सामान्य का विषय समझ कर अलग-थलग हो जाता है, इसी से वह अनचीन्हा है। पूर्वी और पश्चिमी सीमाओं का संकट उसे त्रास नहीं देता। वह स्वानुभूति से जिया हुआ, समाज से कटा, आंतरिक तनाव से प्रतिबद्ध है। उसकी आवाज नारों में न बदल जाये, इसलिए वह जन-सामान्य की परेशानियों से दूर रहता है। उसे द्रविड़ मुनेत्र कड़गम्, पंजाबी सूबा, मिजो, नक्सलवाड़ी, वियतनाम, और चेकोस्लावाकिया केवल दूर की अधिक से अधिक बौद्धिक—साहचर्य की चीजें हैं।

लगता है विद्रोह से बना कविताई व्यक्ति एक साथ हजारों कविताओं में एकसा फूट पड़ा है, पर लावा सा नहीं निरीह भेड़ों सा, या बौखलायी हुई मछलियों सा। प्रायः वह विद्रोह फैशन बन गया है।

आज की कविता नगरीय कविता हैं, गंवईपन की बू से उसे परहेज है। फलतः उसमें चित्रित आदमी और उसका मन भी नगरीय है। औद्योगिक और पूंजीवादी व्यवस्था के कारण जो कशमकश और तनाव की स्थिति बन गई है उससे महानगरों का स्वरूप अधिकाधिक विस्तार पा रहा है। उसमें जीने वाला व्यक्ति परिवेश से कटाव का अहसास कर रहा है। आधुनिक 'फ्लैट्स' और 'ब्लाक्स' में घिरे व्यक्ति आत्म-निर्भरता, निर्जनता और सतत् अकेलेपन को भोगते रहते हैं। इनका सम्पर्क व्यक्तियों [illegible] पशुओं से अधिक होता है। यह वरण किया हुआ अकेलापन मृत्यु बोध

भने वकमाता है। नगरों में मृत्यु-बोध तब उभरता है जब दूध वाला, दूध की बोतलें समेटने आता है, नीचे भीड़ का सैलाब निरर्थक दौड़ता, भागता सा नजर आता है और आकाशवाणी के माध्यम् से पुत्र और पुत्रियों के लिये अपील प्रसारित होती है। यह अकेलापन जन्य मृत्यु-बोध उस समय और भी अधिक प्रखर हो जाता है जब यांत्रिक गति से दौड़ती भीड़ में अनदेखे, अनचीन्हे, और असम्पृक्त चेहरों से मतत परायेपन की झांई पड़ती है। तब व्यक्ति अपने को नितान्त अकेला, समाज से कटा हुआ मानता है। इस 'एलियनेशन' में व्यक्ति सामाजिक सम्पर्कों से कटा हुआ यौन-सुखों में 'अपने होने' का अहसास करता है। आज का कविता में उस महानगरीय अकेलेपन को पकड़ने का प्रयास है—

> अकेलेपन का साँप रेंग रहा है
> और, उगल रहा है आत्म रति का विष
> बंद हैं दरवाजे
> और, विस्तरों पर खामोश पड़ी है रात
> नीली रोशनी मे कैद। (जगदीश चतुर्वेदी)

महानगरों में अकेलापन, भीड़ के सैलाब के कारण हो सकता है। परन्तु भारत में ऐसे महानगरों की संख्या गिनी-चुनी है। अतः वे सम्पूर्ण भारत के आदमियों का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं। भारत की ८०% जनता अब भी गाँवों में रहती है। दूसरे महानगरों में वैसा सन्त्रास, अजनबीपन, परायापन, अकेलापन और मृत्यु-बोध नहीं है, जैसा कि चित्रित किया जा रहा है। अकेलापन, कई प्रकार का होता है। एक अकेलापन मनोविकार भी है जो मनोभाजन (स्किजोफ्रेनिया) तथा 'मेनिक डिप्रेसिव साइकोसिस' से उत्पन्न होता है। यह मानसिक व्याधियों का परजीवी है। कुछ लोग सम्प्रेषणीयता के अभाव के कारण अकेलापन महसूस करते हैं। कुछ में ओढ़ा हुआ अकेलापन है तो कुछ निर्वैयक्तिक सम्बन्धों में व्याघात के कारण सामाजिक अलगाव को महसूस करते हैं। वास्तव में अकेलेपन का सन्त्रास आज के कविताई व्यक्ति ने झेला और भोगा नहीं है। यही कारण है—'भेड़िया आया'—'भेड़िया आया' की चीखों की तरह अकेलेपन का हौवा खड़ा किया जा रहा है। आम भारतीय अब भी सामाजिकता में इतना जकड़ा है कि अकेले को अकेला रहने ही नहीं देता। आज का व्यक्ति वैसा 'आउट साइडर' भी नहीं है जैसा कामू ने अपने उपन्यासों में चित्रित किया है। बात यह है कि संत्रास (हॉरर), अकेलापन (आइसोलेशन), परायापन (एलियनेशन), विसंगति (एब्सर्डिटी), अजनबीपन (आउट साइडर) ऐसे शब्द हैं जो विदेशी धरातल से निकल कर आज की कविता में आ गये हैं। दो-दो महायुद्धों की विभीषिका को झेलने वाला यूरोप यदि

१५

अकेलापन : भोग और लगाव

अकेलापन आधुनिक समाज का चर्चित अभिशाप एवं भावनात्मक भूख माना जाता रहा है। जनसंख्या में अभिवृद्धि, संप्रेषण और मन-बहलाव के साधनों से अलगाव की खाइयाँ सतत् बढ़ती जा रही हैं, उसके साथ ही अकेलापन भी गहरा होता चला जा रहा है।

अकेलापन, सम्पर्क विहीन होने की अस्वस्थ एवं अवांछित भावना है। यदि समुदाय पारस्परिक सम्बन्धों का सामीप्य है तो अकेलापन अस्वीकृत भागीदार होने की अवस्था। आदमी-आदमी के बीच जो अजनबीपन और परायापन है, वही वस्तुतः अकेलापन है। अकेलेपन की अपनी उत्तेजनाएँ हैं और तेज मदिरा के समान तलखी भी है। वास्तविक हिंसक अकेलेपन का लक्षण यूथचारी भावना का ज्वरात्रान्ति होना है। नीत्शे ने इसके अधिक भोग को हानिप्रद बताया है।

अकेलापन, सामाजिक अलगाव, और एकान्तवास पृथक-पृथक अर्थ ढोते हुए शब्द हैं। सामाजिक अलगाव, परिवार और समुदाय से कटाव है। यद्यपि अकेला व्यक्ति सामान्यतया सामाजिक अलगाव, या परिवेश से कटाव की शिकायत करता है, लेकिन समाज से कटा हुआ व्यक्ति, सदैव अकेलेपन की शिकायत नहीं करता और कम से कम सामाजिक सम्पर्कों से वह सन्तुष्ट रहता है। अकेलेपन के एहसास को अस्वीकारने वाले कटे हुए व्यक्ति की सामाजिक एषणाओं के बारे में हम कम जानते हैं। अकेलेपन के उपजीव्य के अपने कुछ कारण एवं परिस्थितियाँ है :—

(१) अकेलापन, सामाजिक अलगाव की पैदाइश है और यह अलगाव समुदाय के साथ वैयक्तिक तादात्म्य के अभाव का एक अपरव, और अविरही चिन्ह है। यह मापित और मूल्यित किये जाने के कारण अकेलेपन के अन्य कारणों की अपेक्षा अधिक आकर्षक है। परिवेश एवं समाज से कटाव मुख्यतया नगरों में होता है, ग्रामांचलों में नहीं। सीमित दायरा, संकुचित आवास, होटल एवं हॉस्टल में निवास, न केवल कटाव को बढ़ावा देते हैं, अपितु आत्महत्या की ओर भी प्रेरित करते हैं। सामाजिक अलगाव, सामाजिक गतिशीलता, और सामाजिक विघटन

से जुड़े हुए तनाव, तलाक, कानूनी अलगाव, वैधव्य, प्रवंचना, दोगलापन, और अनौचित्य से भी उद्भूत होता है। इसके अतिरिक्त सामाजिक अलगाव कुछ मानसिक व्याधियों से भी जुड़ा हुआ है। अधिकांश मनश्चिकित्सक इससे सहमत होंगे कि अन्तर्वैयक्तिक सम्पर्कों में व्याघात ही मानसिक असन्तुलन का एक सामान्य लक्षण है। यह सामाजिक अलगाव, अकेलापन, तत्पश्चात् आत्मघात की ओर गतिशील हो जाता है।

(२) अकेलापन का दूसरा कारण प्रतिक्रियात्मक अवसन्नता भी है। जब दुःख, प्रिय व्यक्ति की मृत्यु, विरह, कुंठित अनुभूति, आघात और दुःख पहुँचाने वाली घटनाओं से प्रसूत होता है तो व्यक्ति अवश्य प्रतिक्रिया के कारण भावनात्मक दृष्टि से कमजोर हो जाता है। यही कारण है कि अलगाव, कुंठा, अनवरता, और अकेलेपन की संवेदनाएँ एक दूसरे से उलझी और जुड़ी हुई हैं।

(३) *व्यक्तित्व-लक्षण भी अकेलेपन के उपजीव्य हैं।* मद्यपान से अकेलापन *दो रूपों में सम्पृक्त है—१. कारण-अकेला व्यक्ति प्रतिकूल आदतों से आत्म-उद्विकास के लिए उत्तेजक पदार्थों का आसरा लेता है। २. प्रभाव—मदिरापान से रिलैक्स होकर वह बातूनी बन जाता है और थोड़े समय के लिए ही सही अन्तः प्रक्रिया और सम्प्रेषणीयता में समर्थ हो जाता है।* व्यक्तित्व में शारीरिक दोष, अंग विकार, तथा अन्य कमियाँ भी इस अकेलेपन को बढ़ावा देते हैं। ऐसे व्यक्तियों के सामाजिक सम्पर्क कटने लगते हैं। वह एक प्रकार से अन्तर्मुखावासी अथवा विमत्त अन्तर्मुखी हो जाता है। यह अकेलापन उसे आत्म-केन्द्रित और अहविकारक बना देता है। युंग के सिद्धान्त में व्यक्तित्व-प्रकार-अन्तर्मुखी की एक वह कोटि है जो उत्तरदायित्व को टालने का प्रयास करती है, दूसरी, अपनी विशिष्ट आन्तरिक भावनाओं की छायाओं को बाह्य जगत की घटनाओं में रखती है।

(४) *परिवेश का भी अकेलेपन के प्रादुर्भाव में बड़ा हाथ है।* विशेषकर *शैशवीय परिवेश इसको पनपाने में बहुत बड़ा योग देता है। एक बच्चा जो माता-पिता द्वारा उपेक्षित है, वह उस अनाथ से अधिक अकेला हो सकता है जिसने अपने माता-पिता को देखा तक नहीं है। माता-पिता की अच्छाई-बुराई भी दोनों ही बच्चे* को प्रभावित करती हैं। यदि माता-पिता का व्यवहार शालीन, सौजन्य एवं गरिमा-पूर्ण है तो बच्चा वैसा ही जीवन जीने का आदी हो जायेगा। यदि दुर्व्यवहार वाले हैं तो अच्छे सम्पर्कों का नितान्त अभाव हो जायेगा। साथ ही वह समीपी व्यक्तियों के सम्पर्क के लिए भटकेगा और वे भी जब बाधा बनकर आयेंगे तो अपने को बंधा हुआ महसूस करेगा। अलगाया हुआ बच्चा बाद में कम्पनी की उपेक्षा कर सकता और वह समाज से स्वतः ही कटता जाता है। उसका व्यवहार भी असामान्य हुआ आत्महत्या, बाल-अपराध, अथवा अनेक मानसिक व्याधियों की ओर

प्रवृत्त हो जाता है। पहली कोटि का बच्चा अकेलेपन में घबड़ा कर सामाजिक कटाव की शिकायत करता है। दूसरे वर्ग का बच्चा अकेलेपन को भोगते हुए भी शिकायत नहीं करता। इस आत्मनिर्भर अकेलेपन की भ्रति कितनी ही दयनीय हो, परन्तु यह तर्क सिद्ध है कि पहले वाली अवस्था कम पीड़ादायी है। रामू नामक कैदी ने अपने अकेलेपन की दास्तान सुनाते हुए कहा—मेरा एक कुत्ता था। मैं अपनी बचत उसी पर व्यय करता था। छुट्टियों के दिन उसे घुमाने के लिए ले जाता। गली के सभी व्यक्ति मेरे कुत्ते से परिचित थे। बच्चे उसे प्यार करते और उसके साथ खेलते, लेकिन कोई मुझसे बातें नहीं करता था। मैं जीवन भर अकेला भेड़िया रहा। घर में केवल बीमार माँ थी। इसलिए मैं अपने हमउम्र बच्चों के साथ कम ही खेलता था।

रामू के शैशवीय परिवेश ने उसे असम्पृक्त बना दिया था। ऐसे व्यक्ति जब बन्दी बन कर बन्दीगृहों में आते हैं तो अपने अपूर्ण व्यक्तित्व के कारण साथी खोजने में असफल हो जाते हैं। इस प्रकार वे नाखुश और अकेले रह जाते हैं। जेल की कोठरी का दरवाजा बन्द होते ही ऐसा प्रतीत होता है मानो समस्त जगत से उनका सम्पर्क कट गया हो।

(५) माहौल का बदलाव भी अकेलेपन का उत्तरदायी है। प्रतियोगिताशील समाज के द्वारा फुसलाया एकान्त, अकेलेपन का प्रमुख कारण है। ईश्वरीय आस्था के विगलित होने से व्यक्तिवाद को बढ़ावा मिला जो अहंवाद के साथ जुड़कर अकेलापन को बढ़ाता रहा है। सामुदायिक भावना का ह्रास भी उस समय परिलक्षित होता है जब निर्धन वर्ग का एक व्यक्ति निस्सग व्यक्तिवाद के प्राजोध्य एवं उर्वरक मध्यवर्ग में प्रविष्ट हो जाता है। सामुदायिक भावना की निराश विशृंखलिता सामान्य सामाजिकता से रहित होकर अस्ति-अकेलापन (पॉजिटिव सोल्यूट्यूड) में बदल जाती है। इसके अतिरिक्त माहौलजन्य उदासीनता, जो कि अकेलेपन के विध्वंसक प्रकार को उद्भूत करती है, कुछ नहीं, केवल सम्पृक्ति की असफलता और वास्तविक सम्प्रेषणीयता की सतत्—मनोवैज्ञानिक अवरोधक है।

मध्यवर्ग का शिक्षित युवक परिवार से च्युत होकर शिक्षा पाता है, जिससे पारिवारिक सम्बन्ध टूटते जाते हैं तथा पृथक् रहने से घटैत होने और महसूस करने की भावना विलुप्त हो जाती है। ऐसे व्यक्ति भाव-प्रवण शक्तियों को व्यक्त करने में अयोग्य प्रमाणित होते हैं और वे निर्वेग, निष्क्रिय, एवं नीरस हो जाते हैं। चेता-विभञ्जन (नर्वस ब्रेक डाउन) में हिंसक भी हो सकते हैं। भावनात्मक पोषक तत्व तथा भावनात्मक सम्पृक्ति से रहित ये अकेले व्यक्ति अकेलेपन की घाटियों को तोड़ नहीं पाते हैं। न वे सम्पर्क बढ़ाकर अनाहत होना चाहते हैं और न गोशानशीनी से मुक्त। यह गोशानशीनी इनको अयोग्य बनाती है, जबकि मेल-मिलाप योग्य बनाता है।

६ जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, परिवेश में कटाव नगरों में होता है। आधुनिक ब्लाक्स और फ्लैट में घिरे व्यक्ति आत्मनिर्भरता, निर्जनता, और सतत् अकेलेपन को भोगते रहते हैं। इनका सम्पर्क व्यक्तियों की अपेक्षा पशुओं से होता है। भाषा के टब्लेशन के कारण एकान्तप्रिय व्यक्तियों के प्रति कोमलता, इतिवृत्तात्मक, टिपीकल इनवर्जन है। यह वरण किया हुआ अकेलापन मृत्यु-बोध को उकसाता है। नगरों में मृत्यु-बोध तब उभरता है जब दूध वाला दूध की बोतलें समेटने आता है, नीचे भीड़ का सैलाब निरर्थक दौड़ता भागता सा नजर आता है और आकाशवाणी के माध्यम से पुत्र और पुत्रियों के लिए अपील प्रसारित होती है।

यह अकेलापन जन्य मृत्यु-बोध उस समय और भी प्रखर हो जाता है जब यांत्रिक गति से दौड़ती भीड़ में अनदेखे, अनचीन्हे असम्पृक्त चेहरों से सतत् परायेपन की भाँई पड़ती रहती है। तब व्यक्ति अपने को नितान्त अकेला, समाज से कटा हुआ मानता है। जिसको भुलाने के लिए कैफे, क्लब, बोतल, और बार इत्यादि में आश्रय खोजता है पर वह मृगतृष्णा भर रह जाती है। लन्दन और न्यूयार्क में ऐसे ही लोग अप्राप्य लड़कियों के स्वप्नों को भुलावा देने के लिए स्ट्रिप क्लबों के चक्कर लगाया करते हैं।

(७) अकेलापन मनोविकार है। यह कुछ मानसिक व्याधियों का परजीवी है। मनोभाजन (स्क्रिज़ोफ्रेनिया) जो क्रियाशील मनोरुजा (फंक्शनल साइकोसिस) का एक रूप है, अकेलेपन को पालती-पोषती है। (डिल्यूजन्स) भ्रम और झूठे विश्वास और सामाजिक खिंचाव इसके प्रमुख लक्षण हैं। सामाजिक खिंचाव दूसरे व्यक्तियों के साथ सामाजिक सम्बन्धों को घटा देता है। जब यह व्याधि पूर्णरूप से विकसित हो जाती है तो व्यक्ति साथियों की आवश्यकता का अहसास नहीं करता है। यहाँ तक कि 'रिमिशन' की स्थिति आ जाती है और रोगी सम्बन्धों के कटाव से अभिज्ञ होते हुए भी भावनात्मक दरिद्रता से भयभीत रहता है और कटाव उसे आत्महत्या को और प्रेरित कर देता है। कुछ व्यक्ति स्वस्थ होते हुए भी भावनात्मक अलगाव से भयाकुल रहते हैं। यह प्रवृत्ति उन युवकों में पाई जाती है जो प्रौढ़ावस्था के समायोजन को मूर्त करने में अक्षम रहते हैं। मनोरुजा के दूसरे रूप 'मैनिक डिप्रेसिव साइकोसिस' में लोग यह नहीं जानते कि समझौता किस प्रकार किया जाये। वे या तो संघर्ष में पराजित होते हैं अथवा उसकी वास्तविक स्थिति को अस्वीकारते हैं।

मनोभाजन (स्क्रिज़ोफ्रेनिया) का एक रूप पैरानॉइड स्क्रिज़ोफ्रेनिया कहलाता है। इसका रोगी प्रायः उद्घोषित करता रहता है कि वह परिवार द्वारा लूटा और छला गया है अथवा कैद कर लिया गया है। पैरानॉइड या मानसिक उन्माद से पीड़ित व्यक्ति सहायक साक्ष्यों के प्रत्येक अंश को अपने उन्मादित एवं शकालु विचारों

रा प्राधार बना लेता है। प्रगर उसके प्रविष्ट होते ही कमरे में चुप्पी छा जाती है तो वह सोचता है कि वहाँ बैठे हुए व्यक्ति उसके बारे में ही बातें कर रहे थे। वे बातें प्रवश्य ही निन्दापरक होंगी। गली प्रथवा सड़क पर खड़ा हुआ व्यक्तियों का समूह संयोगवश उस पर एक दृष्टि डाल देता है तो वह सोचता है वे लोग उस पर प्राक्षेप कर उसका उपहास कर रहे हैं। प्रगर उसकी खिड़की के नीचे शोर होता है तो वह सोचता है कि उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रचा जा रहा है। यदि कोई विहँस कर बतरा रहा हो तो वह समझता है कि उस पर हँसा प्रौर रिमार्क पास किया जा रहा है।

कभी-कभी यह उन्मादग्रस्त व्यक्ति प्रपनी शंका प्रौर भय को सतुष्ट करने में प्रक्षम रहता है, प्रपने को घिरा जानकर वह कल्पित उत्पीड़कों पर प्रहार करने को उद्यत हो जाता है। विरोधी होने का दोषारोपण करते हुए उन्हें प्रपशब्द उच्चारता रहता है। कभी-कभी हिंसक भी हो उठता है। कभी विक्षिप्त हो जाता है। यही उन्मादग्रस्त व्यक्ति की कुहेलिका है। ऐसा व्याधिग्रस्त व्यक्ति प्रजनबीपन के कारण समान धर्मियों से सम्पर्क स्थापित करने में प्रसमर्थ रहता है। यद्यपि इनका प्रकेलापन भावनात्मक भूख का एक रूप है। इसे उपान्त गत्यावरोध (सब प्रबंन स्टेनेन) या न्यूरोसिस कहा जा सकता है। यह डोमीनेंट व्यक्ति प्रपना एक संकीर्ण घेरा बना लेता है प्रौर चाहता है कि उसके समीपस्थ मित्र भी प्रन्य व्यक्तियों से सम्पर्क काट लें।

प्रकेलेपन को प्रवृत्त्यात्मक प्राधार पर निम्नरूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है.—

१. प्रसम्प्रेषणीयता का प्रकेलापन—इसे चाहते हुए भी सम्प्रेषणीयता के प्रभाव का प्रकेलापन भी कहा जा सकता है। इस प्रकेलेपन में मजबूरी का प्रकाशन होता है। इस वर्ग में गूंगे, बहरे, स्थापना के लिए प्रयत्नशील बौद्धिक, लीक से हटकर चलने वाला कलाकार, प्रपने हठ प्रौर मूर्खता में हिंसक बना हुआ व्यक्ति प्रादि प्राते हैं। शारीरिक प्रयोग्यता के कारण मनुष्य प्रपने को दूसरों से जुड़ा हुआ नहीं पाता। कुछ में हीनत्व प्रौर कुछ में कटने की नैसर्गिक प्रवृत्ति होती है। कुछ कलाकारों प्रौर बौद्धिकों का प्रकेलापन मौलिकता की प्रधिकता के कारण है। यदि वे प्रपनी संप्रेषणीय प्रभिव्यञ्जना में पूर्णतया सक्षम हैं तो इनको समझने वाले समुदाय में स्थान प्रवश्य मिलता है, लेकिन इससे दैनिक वैयक्तिक तुष्टि प्राप्त नहीं होती, प्रपितु इससे उसके वैयक्तिक प्रकेलेपन में प्रभिवृद्धि ही होती है। इसका कारण यह है कि जितना प्रधिक वह प्रादर्श भीड़ के साथ संप्रेषण में सक्षम होगा उतना दैनिक जीवन के वास्तविक सम्पर्कियों से कटता हुआ चला जायेगा। वह व्यक्तित्व में काम चलाऊ प्रलगाव रखने के लिए बाध्य हो जाता है प्रौर दैनिक संप्रे-

पक्ष को सभी प्रामाण्य परित्यक्त कर देता है। इस दृष्टि से इसे बाध्य अकेलापन भी कहा जा सकता है।

(२) थोपा हुआ या थोड़ा हुआ अकेलापन— यह अकेलापन उन व्यक्तियों में पाया जाता है, जो वृद्ध हैं, काम करने में असमर्थ हैं, विधुर हैं, निस्संतान हैं, वृद्धावस्था के कारण पेंशन पाते हैं या कार्यमुक्त हैं। पीढ़ियों का अन्तर उनमें एक प्रकार से अलगाव जनता रहता है। ये व्यक्ति समान धर्मामों के साथ प्रातः या सांय पार्कों में बैठकर निरर्थक बतियाते रहते हैं। घर के परिवेश से कटे हुए होने का एहसास करते मित्रों की बैठकों में शतरंज, चौपड़, या तासों की बाजी लगाते रहते हैं। इनका आत्मिक शान्ति और भजन को सौंपा जाने वाला समय निरर्थक अकेलेपन के एहसास में बीतता है।

(३) मानसिक व्याधियों से सम्बद्ध अकेलापन—इसे कारणों के अन्तर्गत संकेतित किया जा चुका है।

(४) अस्ति अकेलापन -- मानवीयता के लिए व्यक्ति को अपने दैनिक सम्पर्कों को सीमित कर लेना चाहिए क्योंकि वह पूर्ण संप्रेषणीयता की प्रतिकूलता के लिए प्राइवेसी को पैदा करता है : यह अकेलापन कम या अधिक अकेलापन होने के मूलार्थ में है अन्यथा इसे अस्ति अकेलापन या पॉजिटिव सॉलीट्यूड कहा जा सकता है

(५) मुक्त संप्रेषणीयता का अवांछनाजन्य अकेलापन – इसमें मुक्त संप्रेषणीयता के प्रति अनिच्छा होती है। यह व्यवस्थित, परिस्थितिजन्य अकेलापन है तथा उस अपूर्ण समुदाय में पाया जाता है जहाँ एक सम्पर्क भाषा होने के साथ-साथ जिजीविषा के लिए निर्बाध होते हुए भी हमको एक-दूसरे से सुरक्षित होने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

(६) असम्पृक्ति का अकेलापन—इसमें व्यक्ति संप्रेषणीयता में भागी नहीं बन पाता है। दूसरे शब्दों में शब्द उसके पास चिपके रहते हैं, वह संप्रेषित नहीं कर पाता है। उसके पास भाषा के रूप में अभिव्यक्ति का सशक्त साधन नहीं होता। इस अर्थ में कलाकार कभी भी अकेला नहीं होता। यद्यपि वैयक्तिक रूप से वह अकेला होता है, परन्तु इसके बावजूद वह अमूर्त और अजन्मी भीड़ के लिए आत्म-तोष की एक सीमा तक सम्प्रेषित करता रहता है।

अकेलापन लज्जाशील व्यक्तियों के व्यवहार से भिन्न है, क्योंकि लज्जाशील दूसरों से मिलना चाहता है लेकिन लज्जा उसे ऐसा करने से रोकती है जबकि अकेलापन संप्रेषणीयता का अभाव है। कुछ परिस्थितियों के कारण जब व्यक्ति का सामा-[illegible] विकास उसे दूसरों से मिलने और संप्रेषण करने में बाधा पहुंचाता है, [illegible] रूप से असम्पृक्त हो जाता है। समुदाय से उसके सम्बन्ध विच्छिन्न

हो जाते हैं और वह कृत्रिम जीवन जीने का आदी हो जाता है।

यह साइकोटिक रोगियो की निशानी है, जो अनावश्यक रूप से अन्य लोगो के ध्येयों पर शका करते हैं। अकेला व्यक्ति घटना-विहीन, दुःखी, अलगता, रहस्य को छिपाता हुआ अकेलेपन की मौत से उसी प्रकार मरता जाता है, जैसे कि भावनात्मक लकवे से पीड़ित हो। यह अकेलापन उसे तोड़ देता है, चटका देता है। उन्माद की बलि-वेदी के पर्दे से झाँकता, अकेलेपन मे जीता, भोगता, और टूटता यह अकेला सोवर्गों में राहत खोजता रहता है और अजनबीपन के अन्धेरे गलियारो मे भटकता हुआ यह शेष अलगाव मे अपनी भावनाओं का 'राशन' कर लेता है। अनेक अकेले पत्र लिखते हैं, लगातार उपन्यास पढ़ते हैं और पुस्तकीय ज्ञान के मीनार होते हैं। उनका यह एकान्त युद्ध आदर भले ही उत्पन्न करे, परन्तु उनमे कृतज्ञ, कुंठा, और निराश अपने को नोचता और घुन लगाता रहता है।

यह असंदिग्ध है कि जो अपने घेरे के द्वारा दूसरे साथियों से कटे हुए हैं, मानसिक रूप से अस्वस्थ हैं। ऐसे व्यक्ति प्रायः अकेलेपन की शिकायत नही करते क्योंकि वे वास्तव में घनिष्ठता से भयभीत रहते हैं। जो उनकी संवेदनाओ को छू नहीं पाते हैं, उनसे वे अपने को ऊँचा समझते हैं। निश्चित ही ये स्किज़ोफ्रेनिया से पीड़ित रहते हैं। बीभत्स अन्तर्मुखी होने से पूर्व शैशव से ही ऐसा फन्ट उपस्थित करते हैं जो उनकी नैसर्गिक वृत्ति से भिन्न होता है। ऐसे व्यक्ति अपने पास किसी को नहीं आने देते। प्यार करने और कराने के लिए अपने को अयोग्य समझते हैं। उनकी निजी दुनियाँ काँच की दीवारो से घिरी है, जिनसे अन्यों को उचटती निगाहों देखा तो जा सकता है पर वास्तविक सम्पर्क नहीं साधा जा सकता। न वे अपनी लोगों के प्रति उत्साही होते हैं, न आत्महत्या से भय खाते हैं और न अकेलेपन की शिकायत करते हैं। कभी-कभी जब जीवन दूभर निरर्थक, और निस्सार प्रतीत होता तो मृत्यु-बोध को मूर्त रूप दे देते हैं। वे लोगों का कम ध्यान खींचते हैं, यथासम्भव सामीप्य से दूर भागते हैं। जब कोई मैत्री का हाथ बढ़ाता है तो उसे उसमें किसी दुराव निमित्त की गन्ध आती है। जब ऐसे व्यक्ति को घर पर आमन्त्रित किया जाता है तो उसे विश्वास नहीं होता। वह सोचता है उसे रोचक नमूना समझकर बुलाया जा रहा है। जो व्यक्ति अकेलेपन की शिकायत करते हैं उनमे व हेय भावना वाले होते हैं। अकेलेपन का एहसास और शिकायत करने वाले प्यार किए जाने और स्वीकारे जाने मे विश्वास तो करते हैं, लेकिन वे लोग विश्वास करते हैं प्यार के सम्बन्ध उन्हें खतरनाक भेद्य स्थिति मे डाल देते हैं जिससे उन्हें चुटीला सा चोट। इस चुटीलेपन से बचने के लिए वे अपने चारों ओर दीवारें खड़ी कर लेते हैं और अपने को अभेद्य, रहस्यमयी, और सर्वशक्तिमान होने के जादुई मायाजाल की कुहेलिका मे खोये रहते हैं, लेकिन जब किसी अनदेख, अकस्मात दुर्भाग्य

के भँवर में फँस जाते हैं तो उनकी आन्तरिक भावना की कमजोरी प्रत्यक्ष होने लगती है, और तब दुःख के वशीभूत हो जाते हैं। इनके पास बचाव का सीधा-सादा रास्ता दूसरों पर अधिकार करने की अपेक्षा उनकी अवहेलना करना है। कुल मिलाकर ये एकान्तवासी ऐसा जीवन जीते और भोगते हैं, जो रहस्यपूर्ण, काल्पनिक कृत्रिम और भावुकतामय होता है। इस प्रवृत्ति के बौद्धिकों की रुचि दूसरे मनुष्यों की अपेक्षा पुस्तक, चित्रकला या संगीतकला में होती है।

इस प्रकार अकेलेपन को भोगते हुए व्यक्तियों के दो रूप हुए—पहले वे जिनको निर्भर-सम्पृक्ति से पहचाना व टटोला जा सकता है। दूसरे वे जिनको मानवीय सम्पर्कों की असम्पृक्ति से जाना व पहचाना जा सकता है। अब एकान्त में होने वाली मानवीय प्रतिक्रियाओं पर काफी शोध की जा रही है। इन्हीं से अनुप्रेरित साम्यवादी प्रवृत्ति 'मस्तिष्क-प्रक्षालन' भी है जिसमें एकान्त बन्दीगृहों का प्रमुख स्थान है। इस प्रक्रिया में उन अन्तरिक्ष-यात्रियों को विशेष रूप से प्रशिक्षित किया जाता है जिनको लम्बे समय तक घुटन भरी अवस्थाओं में अकेला रहना पड़ता है। इन बन्दीगृहों में इस बात का परीक्षण प्रमुख होता है कि परिस्थितिजन्य और स्वभावजन्य एकान्त में व्यक्ति कैसा व्यवहार करता है। इन बन्दीगृहों का परिवेश विषम और भविष्य अन्धकारमय माना जाता है। जहाँ दारुण-यन्त्रणा और मृत्यु की सम्भावनाओं का सतत् भय होता है। ४-६ सप्ताह में ही बन्दी खिन्न-चित्त हो जाता है। अपने परिवेश अपनी आकृति और व्यवहार के लिये थोड़ा ध्यान देने लगता है। शायद मतिभ्रम (हेलूसीनेशन) की अनुभूति करने लगता है। यो बन्दीगृहों की स्थापना भावनात्मक-पृथक्करण के आधार पर होती है जिससे बन्दी अकेलेपन से घबड़ाकर अपराध और पाप के प्रति प्रायश्चित कर सके।

पूर्वोक्त परीक्षण की प्रतिक्रिया उन लोगों में परिलक्षित की जा सकती है जो कि सामान्यतया मानवीय सम्बन्धों पर निर्भर हैं। जो अवयस्क हैं और परजीवी हैं। इसका असर स्किकजोइड व्यक्तियों पर कम होता है क्योंकि वे आदतन मानवीय सम्बन्धों पर कम निर्भर होते हैं। अतः जब बन्दी कर लिए जाते हैं तब अपने आप में अलगाव का अहसास नहीं कर पाते हैं। सामान्य मनुष्य की प्रतिक्रिया को इस प्रतिकूल परिवेश में नहीं देखा जा सकता है।

कुछ समय के लिए परिवेश से कटे हुए मनुष्यों पर 'मस्तिष्क सम्बन्धी अलगाव' की प्रक्रिया के माध्यम से प्रयोग किये जा रहे हैं। इस प्रक्रिया में तिमिरावृत्त ध्वनि रोधक कक्ष में व्यक्ति को बन्द कर दिया जाता है तथा मस्तिष्क सम्बन्धी ज्ञान लहरियों को निम्नतम सीमा तक कम कर दिया जाता है। इस कक्ष में पहली प्रतिक्रिया यह होती है कि परीक्ष्य व्यक्ति कुछ घंटों के लिए सो जाता है। इसके पश्चात विभिन्न

मानसिक व्याघात होने लगते हैं। कुछ व्यक्ति यह मानकर चलते हैं कि प्रयोगकर्त्ता उन्हें भूल गया है। कुछ मतिभ्रम की अनुभूति करने लगते हैं और कुछ आत्म-विस्मृति की शिकायत करते हैं। अब शनैः शनैः इस बात का अहसास किया जा रहा है कि बाह्य दुनियां में दूसरे मनुष्यों से उकसाव की निरन्तर अगवानी पर हमारा व्यक्तित्व कितना रक्षित है।

तब क्या इसका आशय यह है कि मानसिक स्वास्थ्य के लिए हमें दूसरे व्यक्ति के निरन्तर सम्पर्क में रहना चाहिए? एकान्तवास का सुयोगभोग क्या इस रोग का निदान है? क्या श्रेष्ठ व्यक्तित्व का अलकरण मानवीय सम्पर्कों में निहित है? क्या एकान्त, जो कि अकेलेपन की नींव है, हमारी प्रकृति का एक अंग नहीं है? ये प्रश्न हास्यास्पद से प्रतीत होते हुए भी हास्यास्पद नहीं हैं। इस सन्दर्भ में यह प्रश्न पूछना भी असंगत नहीं है कि एकांत, हमेशा क्यों अनिवार्य होता है?

अकेलापन मात्र एक आवर्त्तक, कभी-कभी अनुन्मूलनीय अवस्था नहीं है, अपितु जिजीविषा के लिए आवश्यक अवस्था है। परीक्षणों से यह देखा गया है कि व्यक्ति को एकान्त की कामना होती है क्योंकि सनातन आदान-प्रदान के सम्बन्ध क्षीण होते जा रहे हैं। अकेला व्यक्ति दूसरों के साथ सतही सम्बन्धों में सुरक्षात्मक कदम उठाते हैं साथ ही आश्वस्त तकनीकों द्वारा अपने को पीछे खींच लेते हैं जिससे समीप न आ सके। अगर ऐसा नहीं होता है तो सामाजिक जीवन जीना दूभर हो जाता है। वे अपना एक संकीर्ण दायरा बना कर उसी में व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण अवसर खोजते हैं। इस माध्यम से वे अनाहत होने का खतरा भी नहीं उठाते।

अधिकांश के लिए अकेलापन एक ढाल है जो कि दूसरे के बलात् प्रवेश द्वारा उनके जीवन और विचारों की रक्षा करती है। ढाल रखने वाले यह अहसास करते हैं कि संसार एक ऐसा प्रतिकूल स्थान है जहाँ दुष्प्रवृत्तियों वाले व्यक्ति निवासित हैं। घटने को जानने के प्रयत्न भयोत्पादक मान जाते हैं। अपने चारों ओर कवच धारण किये हुए ये घनिष्ठता को पीछे धकेलते रहते हैं। यह निस्संदिग्ध है कि कवच के रूप में अकेलापन सुरक्षात्मक है। तभी वह कम बातें करता है, कटता है। वह अकेला ही खाना, रहना और सोना पसन्द करता है। दूसरे व्यक्तियों से उसका सम्पर्क अत्यन्त दुःखद हो जाता है। बुराई की दृष्टि से यह प्रवृत्ति अवांछित है। अच्छाई की दृष्टि से यह स्व-रक्षा की प्रवृत्तियों को जगा देती है।

अकेलेपन का बचाव प्रेम और मानवीय सम्पर्कों की स्वीकृति है। समुदाय और उसके पारस्परिक आदान-प्रदान को पहचान पाना और उसे क्रियान्वित करना अकेलेपन के स्व-अर्जित निदान हो सकते हैं। बहुमुखी सामाजिक की स्वीकृति और उसका किया वय भी अकेलेपन का उन्मूलक है।

१६
नवलेखन और पाठकीय संकट

नवलेखन के सन्दर्भ में पाठकीय संकट दुहरा है। यह उस समूह का है जो रचनात्मक स्तर पर नवलेखन से जुड़ नहीं पा रहा है। एक ओर रचनाकार का दम्भ उसे नकारे हुए है, दूसरी ओर आज का सामान्य पाठक दूर खड़ा हुआ मजाकिया नजरों से उसे देख रहा है। अतः नवलेखन भी खीजा हुआ-सा महसूस कर रहा है। वह तनाव क्यों और किसलिए जैसे प्रश्नों से जुड़ा हुआ है।

स्वान्तःसुखाय के लिए लिखने की परम्परा का दावा बड़े लम्बे समय से हिन्दी में किया जाता रहा है, पर वहाँ भी कवियों का दृष्टिकोण जनसमुदाय से जुड़ कर चलने का रहा है। जुड़ कर चलना और अपनी बात को स्वीकार और चर्चित कराने में नजदीकी का भाव रहा है। इसके लिए जरूरी है कि लेखक या कवि पाठक के अस्तित्व को स्वीकारे। नकारे जाने की स्थिति में प्रेषणीयता की बात करना उतना ही निरर्थक है जितना परिवेश से कट कर अपने को भोगे हुए यथार्थ का लेखक कहना।

इस सम्बन्ध में यह प्रश्न सहज ही उठ खड़ा होता है कि कवि या लेखक की प्रतिबद्धता किससे है? यह रचना, समाज, पाठक और स्व में से किससे प्रतिबद्ध है? आज नवलेखन में रचना से प्रतिबद्ध होने का नारा जोर शोर से उठाया जा रहा है। रचना का सम्बन्ध बाह्य उपकरण और आन्तरिक सज्जा से है। बाह्य उपकरण रचनाकार की निजी पूँजी है, उस पर जितना उसका स्वामित्व होगा, उतना ही वह उसे सँजो सकेगा, किन्तु आन्तरिक सज्जा वैयक्तिक होती हुई भी सामाजिकता से अनुप्रेरित, अथवा किन्हीं मायनों में उससे सम्बन्धित होती है। अतः उससे कट कर जीना किसी भी रचनाकार को वीभत्स अन्तर्मुखी और आत्मपरक बना देगा। निर्वैयक्तिकता के अभाव में उसके निजी संसार की अनुभूतियाँ, प्रामाणिक होते हुए भी व्यापक संवेदनाओं तथा बाहरी और फैली दुनिया की जीवन्त धड़कनों से रहित होंगी।

एक बार डायलन टॉमस अमरीका के एक विश्वविद्यालय में गया। उसे वह [illegible] अनुभव हुआ कि अधिकांश अध्यापक कवि हैं। उनमें अपने ढंग

पूछा—अब वे जीवन को पढ़ते कब हैं ? जीवन को पढ़ना न केवल कवि अपितु कथाकार, नाटककार के लिए भी उतना ही जरूरी है। हिन्दी के नवलेखन के साथ सबसे बड़ी विडम्बना यही है कि उसमें जीवन को पढ़ने का प्रयास नहीं हैं, जीवन से कटने की प्रक्रिया अवश्य है। वह सत्य की खोज में आत्मरति की स्थिति में पहुँच चुका है। यही कारण है सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, और दार्शनिक हलचलें उसे आम जनता की होने के कारण घटिया वस्तु लगती है।

इस जीवन्त यथार्थ से कटने का एक प्रमुख कारण यह भी है कि नवलेखन के केन्द्र महानगर तथा कुछ मझौले नगर हैं। फलतः नगरीय कशमकश की जिन्दगी में लेखक को इतना अवसर नहीं मिलता कि वह जीवन को खुली पुस्तक के समान पढ़ सके। वह जितना इस ओर प्रयत्नशील रहेगा, उतना ही औद्योगिक महानगरीय परिवेश उसमें बाधक रहेगा। यही कारण है कि 'काफी हाउस' और 'बार' में बैठा हुआ लेखक जिन अनुभूतियों को सँजोता है, वे सब बेमानी होती हैं। परिवेश से कटने का एक कारण उसका अकेलापन भी है। यह परायापन, अजनबीपन और अकेलापन, सामाजिक अलगाव की पैदाइश हैं और यह अलगाव समुदाय के साथ वैयक्तिक तादात्म्य के अभाव का एक अपवर्त चिन्ह है। सीमित दायरा, संकुचित आवास, होटल एवं हौस्टल में निवास, कटाव को बढ़ावा देते हैं। इसके अतिरिक्त व्यक्तित्व दोष, अन्तर्वैयक्तिक सम्पर्कों का व्याघात, और दोगलेपन से भी सामाजिक अलगाव पैदा होता है। इस अकेलेपन में जीने वाला कवि या लेखक सबकी अनुभूतियों से कटता हुआ रचनात्मक स्तर पर भी पाठकों से अलग होता जाता है।

नवलेखन में रचनाकार जितना आत्मचेता और शिल्पचेता होता है, उतना समाजचेता नहीं। इस रचनात्मक दौर में वह शिल्पी का कार्य करता है। तकनीक की सूक्ष्मता में पठता हुआ पाठकों की अभिरुचि से सम्बद्ध विषय-सामग्री से कटता जाता है। पचासों कहानियाँ और उपन्यास महज इसलिए बिगड़ जाते हैं कि उनमें रूप और शिल्प के नये-नये प्रयोग होते हैं। कविता में भी शाब्दिक खिलवाड़ और चमत्कार होने से भाव-विरलता आ जाती है। किसी भी कृति को महान् बनाने में कल्पनाशील और नैतिक ताकत, बहुरंगी बिम्बों को संयोजित करने वाली निगाह, और अपने सामने फैले हुए वृत्तखण्ड के न्यास आदि का बड़ा हाथ होता है। 'चेरी' और 'स्वाड' या 'माई ऐंटोनियाँ' (विला कैथर) महान इसलिए हैं कि वे जीवन के व्यापक प्रतिबिम्बन में सफल हैं, या राष्ट्र और सभ्यता के इतिहास को प्रस्तोता हैं। डी॰एच॰लारेंस की कृतियाँ भी जीवन और विकास से बोलती हैं इसीलिए सहज स्वीकारी गयी हैं।

साहित्य की सभी विधाएं जीवन को भागीदार हैं। कवि या रचनाकार को सम-सामयिक परिवेश से जीवन का अर्क खींचना चाहिए, अन्यथा बाह्य दुनिया से

अंतेरणीय कटाव को भोगते हुए रचनाकार अकेला हो जाएगा। आज के नवलेखन का रचनाकार अपने नाम को उछालने, चौंकाने, और ख्यातित होने में अधिक विश्वास करता है। उसके साथ अध्ययन और साधना का परिपार्श्व नहीं है जो लेखन की पहली और अनिवार्य शर्त है। महज फैशन और चौंकाने वाली प्रवृत्ति से जनमा हुआ साहित्य तेजी से बासी पड़ता जा रहा है। इस प्रकार के साहित्य की नवलेखन मे इस कदर बाढ़ आयी हुई है कि पाठक अपने को दिग्भ्रमित समझ कर हैरान हो जाता है। बाजार में बेची जाने वाली बहुरंगी, बहुरूपी वस्तुओं में से जिस प्रकार रुचि की वस्तु छांटना कठिन हो जाता है, उसी प्रकार साहित्यिक विधाओं की विविधताओं की बहुरूपता में अपनी रुचि की चीज खोज निकालना भी उतना ही कठिन हो जाता है। नवलेखन में कोई नया प्रयोग अपना रूप ग्रहण हो नहीं कर पाता कि दस नये किस्मों की चीजें पाठक के सामने आ जाती हैं। यही कारण है कि बहुत सारा उत्पादन चहेतों के बिना बेकार हो रहा है। इसको इस तथ्य से समझा जा सकता है आज हिन्दी प्रदेश के सामान्य साक्षरों की संख्या कुल जनसंख्या की १० प्रतिशत है जिसमें से कठिनाई से ५ हजार पाठक ऐसे मिलेंगे जो नवलेखन की रुचि से पढ़ते हैं। ५२ करोड़ जनता के देश में केवल पाँच हजार पाठक, इससे बड़ी विडम्बना क्या होगी ?

सामान्य पाठक को पुराना साहित्य क्यों रुचता है ? क्योंकि वह अपने को उसमें खुश और मूर्त पाता है। जॉनसन ने इसे एक स्थान पर स्पष्ट करते हुए लिखा है—कोई भी लेखक सामान्य पाठक से तादात्मीकरण किए बगैर जीवित नहीं रह सकता। दरअसल बात यह है कि साहित्य को महान् बनाने वाली वस्तु है विषय-वस्तु की उच्चता, जबकि नवलेखन मे शिल्प प्रमुख, विषय-वस्तु गौण मानी जाती है। शैली जहाँ चमत्कार लाती है, वहाँ भदेसपन भी। रूसी लेखन में पुनर्निर्माण की प्रवृत्ति है। वे किसी 'ओर' जाते हैं, पाठक को भी बुलाते हैं। डॉस्ताएव्स्की के 'द हाउस ऑफ डेड' में अनेक बन्दी अपराधी अच्छाई की ओर मुड़ते हैं तो गोर्की के 'लॉजिक फार दि नाइट' में विषाक्त परिवेश से ध्वंसशील वस्तुओं में चूका एक ऐसा तीर्थयात्री है जो दुःख और निराशा में भी मानवीय अच्छाई पर आस्था रखता है। उसका विश्वास है कि हर मानव में ऊर्जा होती है। यही कारण है कि रूस में गोर्की, चेखव, टॉल्स्टाय, डॉस्ताएवस्की और शोलोखोव को पढ़ने वाले इन्जीनियर, डाक्टर, मिस्त्री, और मजदूर वर्ग के लोग हैं।

लेकिन हिन्दी के नवलेखन के साथ स्थिति भिन्न है। वह मूल्यों के विघटित परिवेश से जनमा, आतंक और युद्ध की विभीषिकाओं से परोक्ष में पला हुआ है। अतः उसका विश्वास न ईश्वर पर है, और न मानव पर। पिछले दो दशकों से जो ... आ रहा है उसमें मूल्यहीनता, आदमी की अच्छाई और महत्ता में अविश्वास

है। इसमें जो एक शून्यवादी दृष्टिकोण विकसित हुआ है, उससे आत्महीन पात्रों की एक भीड़-सी लग गयी है। आज का लेखक सकारात्मक मूल्यों की प्रस्तुति का कितना भी इरादा कर ले, परन्तु समय की अवचेतना प्रेतछाया की तरह सदैव उसके सृजन पर छायी रहती है और वही नवलेखन में चित्रित की जा रही है। सन् १७५५ में लिस्बन में आये भूचाल ने कान्ट, वाल्टेयर और ह्यूम जैसे आस्थावादी लेखकों की आस्था को डगमगा दिया, फिर सामूहिक चेतना को धक्का देने वाली मानवीय अनास्था से कितना धक्का लगा होगा, यह सहज ही सोचा जा सकता है। अतः नयी पीढ़ी को भ्रष्ट, कुत्सित, देह की राजनीति में ग्रस्त, अनास्थावादी, नशीली, समलैंगिक और निराश कहना अनुचित है, क्योंकि वे, जैसा जीवन है, वैसा ही चित्रित कर रहे हैं। यही परिचित जगत् का वास्तविक सत्य है।

लेकिन अनुत्तरदायी संवेदनाएं, कभी भी उत्तरदायी संवाहक नहीं हो सकती हैं। दुनिया से बदलाव की इच्छा करने की अपेक्षा घृणा करना पाखंड है। सभी व्यक्ति भले और सुखी होना चाहते हैं — यह जैविक सत्य है। इसीसे, लेखक जो मूल्यहीन मानव की मूर्खता और अनाचार को चित्रित करता है, वह वास्तविकता तो है, किन्तु सत्य नहीं। फलतः नवलेखन जिन विसंगतियों को चित्रित करता है उसमें आस्थावादी लेखकों की तरह किसी ओर जाने का भाव न होने के कारण सामान्य पाठकों से वह कट रहा है।

यह पाठकीय संकट, स्वयं पाठकों द्वारा भी पैदा किया हुआ है। उसका युग-बोध, भाव-बोध और शिल्प-बोध इतना पुराना है कि वह नवलेखन के साथ-साथ चल नहीं पाता है। उसके फिसड्डी होने का कारण यह भी है कि परम्पराओं और रूढ़ियों से इतना जकड़ा हुआ है कि वह हर नये प्रयोग को पुराने नजरिये से देखने का आदी हो रहा है। इसी वजह से वह नवलेखन को समझ नहीं पाता और उसे मखौल के रूप में लेता है। इस अगम्भीरता के लिए पाठक ही पूरे तौर पर जिम्मेदार हैं।

आधुनिक उपकरणों का प्रयोक्ता सचेत पाठक भी सही रूप में भावनात्मक र क्रियात्मक स्तर पर आधुनिकता नहीं अपना पाया है। उसकी अपकचरी आधुनिकता भी नवलेखन से तादात्मीयकरण करने में असमर्थ रहती है।

वस्तुतः हिन्दी का पाठक सही रूप में पाठक नहीं है। साहित्य के प्रति रुझान ा ही लोगों में कम पाया जाता है, फिर साहित्य खरीदने की क्षमता का अभाव भी हैं साहित्यिक हलचलों से दूर करता जाता है। 'कुछ' पढ़ने के नाम पर वह उन्हीं

पुस्तकों को पुस्तकालयों से निकलवाता है जो किसी द्वारा सुझाई होती हैं। फलतः स्व-विवेक जो पाठकीयता की जरूरी शर्त है, आज के पाठक में नहीं पायी जाती।

इन्हीं परिस्थितियों के कारण नवलेखन के सन्दर्भ में पाठकीय संकट आ खड़ा हुआ है, जिसके लिए लेखक और पाठक दोनों ही समान रूप से जिम्मेदार हैं। अपनी दुनिया से बाहर निकल कर रचनाकार को बाह्य दुनिया से संपर्क बनाना जितना जरूरी है, उतना ही जरूरी पाठक को रूढ़िगत संस्कारों से मुक्त होना भी।

१७

भटकी राहें और अपने को खोजते हुए शंकाकुलों का हाहाकार

बीसवीं शती के शंकाकुल युग का आदमी अपने परिवेश के तिहरे दबाव से बुरी तरह पिचक कर वामन हो गया है। तिहरे दबाव की यह अनुभूति पहले के सृजनशील बौद्धिकों को इतने तीखे रूप में कभी महसूस नहीं हुई थी। यों परिवेश का दबाव उन्हीं को कचोटता है जो समाज में थोड़े प्रबुद्ध माने जाते हैं और जो परिवेश को 'स्टौन' के रूप में नहीं लेते हैं। जीवन की बनावटी बुनियादों से मोहग्रस्त व्यक्ति परिवेश के उस दबाव को महसूस नहीं करता, जिसको यास्पर्स 'बाउन्डरी सिचूएशन' के नाम से अभिहित करता है। इसमें पहला दबाव व्यक्ति के अन्तर्मन का है। फ्रायड, एडलर, युंग ने अवचेतन की पिटारी से जिन मानवीय कुण्ठाओं और ग्रन्थियों को बाहर निकाला, उनकी उलझनों में फंसा व्यक्ति स्वयं के प्रति अधिक सचेतन हो उठा है। परम्परागत नियमों और निषेधों के साथ समस्त नैतिक धारणाओं की अवहेलना करके वह इस दबाव से निरन्तर पिसता चला जा रहा है।

दूसरी ओर राष्ट्रीय स्तर पर उसका सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिवेश उसे सजग रहने के लिए कचोटता है। तीसरी ओर विज्ञान ने आज की दुनियाँ को इतना छोटा बना दिया है कि वियतनाम की घटनाएँ, सैंकड़ों मील दूर की न रह कर, समीप की लगती है। विज्ञान, कला, साहित्य, दर्शन और सामाजिक क्रांतियाँ उसे मथे बगैर नहीं रहती। इन तीनों दबावों के साथ मनुष्य के परिवेश ने जो तनाव लिया है, वह इसी शंकाकुल युग की देन है।

१. परिवेश की विसंगतियां और भूल-भुलैया का सृजन—

आज के आदमी के चेहरे से बौद्धिक लज्जा झांकती है। आँखों में करुणा का सागर लहराता है। इस नियति का परिपार्श्वीय जामा प्रथम विश्वयुद्ध से बुनना प्रारम्भ हुआ। जैसे-जैसे मूल्य विघटित होते गये, वैसे-वैसे अनास्था, कुंठा, वेदना, निराशा, मृत्यु-बोध, सत्रास और असतोष के स्वर उभरते रहे। उस समय का साहित्य मूल्य-विघटन-प्रक्रिया को मूर्त रूप देने में तल्लीन रहा। इलियट, जेम्स ज्वायस,

बेकेट, स्टीफन स्पेन्डर, सार्त्र, कामू, काफ़्का, हेमिंग्वे, पास्तर्नाक, ब्रादेने, गिन्सबर्ग, जैक कैरुआक, कामो और विलियम बरोज़ इसी 'एग्ज़ाइटी' के परिवेश को चित्रित करते रहे जो तात्विक निराशा से बर्बर, खोखला, और बेनकाब हो चुका था। गिन्सबर्ग ने अमेरिका को हमीलिया नंगा करना चाहा था। इस यान्त्रिक परिवेश और यान्त्रिक सभ्यता में आज के आदमी का जो टूट रहा है। तभी अमेरिका में नकली मुखौटा-धारियों, पूंजी, दोगली रंग-भेदियों, वियतनामियों के नृशंस हत्यारों के विरुद्ध बीटनीकों और हिप्पियों ने, तिजारत की सभ्यता, 'केमरा' और विसंगतियों के विरुद्ध इंग्लैंड की क्रुद्ध पीढ़ी, बंगाल की भूखी पीढ़ी, जापान की सन-ट्राइबर्ड पीढ़ी, और बर्बर हेवनिंग पीढ़ी ने विद्रोह का बाना धारण किया है।

परिवेश के फैलने के साथ-साथ उसका निर्वासन भी बढ़ता चला जा रहा है। आज के परिवेश के दबाव से मनुष्य इतना संत्रस्त और निराशाजनक-ऊब से भर गया है कि वह चिल्लाता फिरता है कि उन दिनों को मर जाने दो, जब मेरा जन्म हुआ। यह मृत्यु-बोध उसके सिर पर हमेशा सवार रहता है। कीर्केगार्द, दोस्तोएव्स्की, नीत्शे, काफ़्का का 'निहलिस्टिक' दृष्टिकोण आज का कटु यथार्थ, और सार्वभौम दुर्गति का परिचायक बन गया है। मुख्य बात यह है मनुष्य ने न केवल अपना केन्द्र खो दिया है, अपितु उसका अपनापा भी उससे बिछुड़ गया है। उसे यह प्रतीति ही नहीं होती कि कौन 'सितारे' उसके जीवन को चलाते हैं। वह चेहराहीन होकर असलियत खो चुका है।

दुनियां, जब भौतिक उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच जाती है तब उसका प्रत्यावर्तन सदैव त्रासदी में होता है। अधिभौतिक संभावनाओं से रहित होकर आज का आदमी अपने ही परिवेश में अपने को अजनबी महसूस करता है। उसका अकेलापना उत्तरोत्तर बढ़ता चला जा रहा है। यह अजीब विसंगति है कि परिवेश के प्रसार के साथ आदमी अपने में सिकुड़ता चला जा रहा है।

ईश्वर, प्रेम और मृत्यु जो कभी साहित्य को अपनी ओर खींचते थे, अपना स्वत्व खो बैठे हैं। न्यूटन के ऊर्जा सम्बन्धी सिद्धान्त से ईश्वर की कुर्सी हिल गई थी। नीत्से ने उसे मृत घोषित कर दिया स्थानापन्न मनुष्य भी सृष्टि का नियामक और केन्द्र न रहा। ब्रेख्त ने उसे भी मृत घोषित कर दिया। तभी कीर्केगार्द ने कह दिया, 'मृत्यु मनुष्य के लिए अर्थशून्य है क्योंकि समस्त सृष्टि में मनुष्य के लिए कोई स्थान नहीं रहा।' इन समस्त तत्वों ने मनुष्य को अपने अस्तित्व के प्रति शंकालु बना दिया है। जिन्दगी की तात्विक व्यर्थता और वैज्ञानिक खोजों के नये करिश्मों से जो 'एग्जाइटी' का संसार निर्मित हुआ है, उसमें आदमी छटपटा रहा है। वह छटपटाहट-आर्वेल के '१६८४' में और कोबो एबे के 'वीमेन इन ड्यून्स' में है। 'वीमेन इन

इयूसर्' का वैज्ञानिक जो चाहता है, कर नहीं पाता। रेत के ढूह में फंसा अपने अस्तित्व के लिए कुलबुलाता है, शनैः शनैः व्यवस्था का अंग बनता चला जाता है। अस्तित्ववाद की मूल समस्या यह नहीं कि अजनबी, बेहूदी और सन्त्रासमयी दुनिया को कैसे बदला जाये, बल्कि इनके बीच में यह अनुभव करना है 'मैं हूं। आज संक्रांति की सीमान्त पर खड़ा हुआ मानव अपने अस्तित्व को खोजने मे शंकाकुल, भयग्रस्त, संत्रस्त और अजनबी है। मनुष्य के नकारने और तोड़ने का अभिप्राय नये मूल्यों की ओर जाने का प्रयास है। पर विडम्बना यह है कि मूल्य बनते नहीं। इसीलिए जीवन विद्रूपमय है, भूल-भुलैया है और वैसा ही साहित्य-सृजन भी हो रहा है।

एक ओर व्यापक परिवेश का यह दबाव है, दूसरी ओर आदमी का राष्ट्रीय सामाजिक, आर्थिक, जातिगत, और परिवारगत परिवेश है। वह देखता है कांग्रेस सल्तनत ने २२ वर्ष के दीर्घ प्रशासन मे नारे ही नारे उछाले हैं। वक्तव्यों का ढेर लगा दिया है। २१० अरब रुपये पचवर्षीय योजनाओं में फूकने के बावजूद भी गरीबी, बेकारी, मंहगाई, भुखमरी, अकाल, बाढ़, साम्प्रदायिकता, जातिवाद, नेताई-कुर्सी-मोह और विदेशी भाषा न केवल बदस्तूर बने रहे, अपितु रक्त-बीज की तरह फलने-फूलते रहे हैं। भारत के तथाकथित राजनैतिक प्रहरी भारत के शिथिल गात को विदेशी पंजों द्वारा नोचने से रोकने में असमर्थ रहे हैं। कोलम्बो योजना कच्छ, और ताशकन्द के समझौते शांतिप्रियता के नाम पर हमारे खोखलेपन को अधिक उजागर करते रहे हैं। नेता और अमीर और भी अमीर होते गये हैं, जनता अभावो से सन्त्रस्त रही है। ९२ करोड़ का कर्जा सिर पर नंगी शमशीर की तरह लटक रहा है। इधर विरोधी दलों मे कांग्रेस (दोनों) से बढ़कर शून्यता और अराजकता है। जातिवाद ने चुनाव, नियुक्ति और हर कार्य मे अपना आधिपत्य जमा लिया है। साम्प्रदायिकता के नाम पर हर जगह तलवार, बर्छे और बन्दूक जैसे मारक हथियार निकल आते हैं। मंहगाई का यह आलम है कि परिवार-नियोजन के बावजूद भी व्यय-नियोजन नहीं हो पाता है। आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक परिवेश की इस कसमकश में जीता हुआ आदमी क्या करे? यह बहुत बड़ा प्रश्न है।

२. विद्रोह का सृजन और सृजन का विद्रोह—

इस शंकाकुल स्थिति में आदमी के पास और कोई चारा नहीं, सिवाय इसके कि वह सामाजिक, राजनैतिक, और व्यापक परिवेश से विद्रोह कर सार्त्र के न्यूज आफ रोजन, का नायक मैथ्यू अपने स्वतंत्रता सघर्ष के लिए निर्वासन का अभिशाप भेलता है। इस प्रकार कामू के 'द प्लेग' मे पत्रकार सहित डाक्टरों का समूह यह जानते हुए भी कि प्लेग (नाज़ियों का आक्रमण) जाने वाली चीज़ नहीं है, फिर भी उसका सामना करता है। कोबांर्दे का वैज्ञानिक भी साथ मे रहने वाली ढूह वासिनी को मारता,

है, झुंझलाता है। अंत में निहायत अनिश्चित और असुरक्षा के परिवेश में एक ही रास्ता बच रहता है–मरना ही है तो तटस्थ और उदासीन होकर स्थिति को स्वीकारा जाय। कामू का अजनबी (स्ट्रेंजर) भी मृत्यु-संत्रास के बहाने तटस्थ हो जाने की कोशिश करता है।

लेकिन तटस्थ हो जाना, पलायनवाद है। कोई हल नहीं है। इसीलिए सार्त्र जो अपने चिन्तन के प्रारम्भ में कामू की तरह अप्रतिबद्ध होने की बातें करता था, अब प्रतिबद्धता का आसरा लेने लगता है। 'नौसिया' का नायक रैंकार्ते जहां प्रतिबद्धता से भागता फिरता है, वहां 'ऐज-आफ रीजन' का नायक मैथ्यू प्रतिबद्धता की ओर उन्मुख होता है। सार्त्र का मत है कि प्रतिबद्धता के बिना हमारा कोई निस्तार नहीं– 'अगर हम कभी भी प्रतिबद्ध नहीं हुए तो हमारी स्वतन्त्रता का ध्येय क्या रह जाता है? तुमने अपने आप को साफ करने में पैंतीस वर्ष गंवा दिये, उसका नतीजा यह है कि तुम खोखले हो गये हो।'

इस सब का हल है 'गीता' का 'कर्मयोग'। कर्म के अभाव में चिन्तन अधूरा है। साहित्य के क्षेत्र में भी रचना का सम्बन्ध बाह्य उपकरण और आन्तरिक सज्जा से होता है। बाह्य उपकरण रचनाकार की निजी पूंजी है। उस पर उसका जितना स्वायत होगा, उतना ही वह उसे संजो सकेगा; किन्तु आन्तरिक सज्जा वैयक्तिक होती हुई भी सामाजिकता से अनुप्रेरित, अथवा किन्हीं मायनों में उससे सम्बन्धित होती है, अतः उससे कटकर जीना किसी भी रचनाकार को विभत्स अन्तर्मुखी और आत्मपरक बना देगा।

आज का जीवन विसंगतियों से छक कर भरा हुआ है, वे विसंगतियां काफ्का के 'द ट्रायल' व 'द कॉसल' जैसे उपन्यासों और कामू की 'द गेस्ट' जैसी कहानियों में वर्णित विसंगतियों से भी भयंकर हैं। इन्हीं के बीच जीवन की अर्थवत्ता को भटकते हुए 'फाउस्ट' और 'करमाजोव' के हाथों में बालू ही नजर आई। ऐसी स्थिति में कीर्केगार्द दो राह सुझाता है–एक विसंगतियों के बीच आस्थापरक हो जाना है, दूसरा विसंगतियों से ऊब कर आत्महत्या कर लेना है। आस्थापरक हो जाना, 'तटस्थ होकर सब कुछ सहना' जैसा ही है। आत्महत्या कर लेना, निरा पागलपन और पलायन है। अतः विसंगतियों और 'बाउंडरी सिचुएशन' की स्थिति में कामू तीसरा रास्ता सुझाता है–वह है विद्रोह का। यह विद्रोह चाहे 'सिसाफस' की विरन्तन कर्म करने की नियति का हो, चाहे 'द रिबेल' में चित्रित जैसा।

कामू क्रांति और विद्रोह में अंतर करता है। क्रांति को चरम मूल्यों पर आधृत बताया है। विसंगति यह है कि सारे मूल्य मिथ्या हैं। फलतः आज की

परिस्थिति में विद्रोह ही अधिक सार्थक और सत्य के निकट है। विद्रोह का साकार रूप वरण-स्वातंत्र्य है, उसके साथ यदि प्रगाढ़ जीवन की लालसा सन्निहित हो, तो वह विद्रोह के शंखनाद में गूंज पैदा कर देती है।

यह विद्रोह विसंगतियों का आज के खोखले जीवन का सृजन है। अमेरिका में बीट पीढ़ी का सृजन विद्रोह का सृजन है। इसमें बीट कवियों का विद्रोह 'वरण-स्वातंत्र्य' की ओर उन्मुख तो है, किन्तु उसमें प्रगाढ़ जीवन की लालसा और किसी 'ओर' जाने का प्रयास नहीं है। अमेरिका जैसे विकासशील देशों की सभ्यता और संस्कृति भौतिकता के चरमोत्कर्ष पर पहुंच चुकी है। इस अमानवीय यान्त्रिकता से छुटकारा पाने के लिए नई पीढ़ी कसमसा रही है। यही कारण है अमेरिका की बीट पीढ़ी और इंग्लैंड की क्रुद्ध पीढ़ी पूंजीवादी व्यवस्था की जड़ें खोदने में तत्पर हो गई हैं। बीट पीढ़ी को अमेरिका की बढ़ती युद्ध मदान्धता और वियतनाम में अमानुषिक हिंसा से सख्त नफरत है, तभी वे कहते हैं—'अमेरिका व्हेन विल बी ऐंड ह्यूमन वार? अमेरिका, व्हेन विल यू एंजलिक? अमेरिका व्हेन विल यू टेक आफ योअर क्लोद्स? अमेरिका ने भ्रम, झूठ, छल, प्रपंच, मक्कारी, ईर्ष्या की जो झिल्ली पहन रखी है, उसे बीट पीढ़ी उतार फेंकना चाहती है। उनके लिए अमेरिका वेश्या है। वे गलत अतीत को ढोकर नहीं चलना चाहते। समाज व्यवस्था से इस कदर नाराज हैं कि स्वीकृत नियमों और कानूनों को उन्होंने अस्वीकार कर दिया है, लांस-एंजलस की भरी सभा में 'नेकडनेस' का अर्थ बताने के लिए गिन्सबर्ग ने कपड़े उतार फेंके थे। उसकी 'हाउल' कविता में आक्रोश, कुंठा, उत्तेजना, खीज, और झुंझलाहट है। विलियम बरोज (नेकेड लंच), जैक कैरूवाक (आनन्द रोड़) तथा कोर्सो की रचनाओं में वही विद्रोह है जो जार्ज आर्वेल की कृतियों में। लेकिन अधुनिकता के मसीहा ज्यांजेने में आक्रोश तो है पर संत्रास का भयावह रूप उस पर हावी है।

हिप्पियों के आत्मदर्शन में पलायनवादी स्वर है। 'मारिजुआना' और एल० एस० डी० के प्रयोग से वे इस दृश्य जगत से अलौकिक जगत की रंगीनी में खो जाना चाहते हैं। मेक्सिको के छात्र विद्रोह, फ्रांस में डिगाल के विरुद्ध छात्र-विद्रोह, इंडोनेशिया में सुकर्ण के विरुद्ध छात्र-विद्रोह में वस्तुतः परिवेश की विसंगतियों का एक सा ही हाथ था। यह मध्यवर्ग के नैराश्य और आक्रोश को अभिव्यक्त करता है। ये जानते हैं कि संसार में जितनी क्रान्तियां हुई हैं, उन्होंने अनन्तः राजनैतिक रूप धारण कर लिया है। ये क्रांतिया मानव नियति को पूरी तरह बांधने और उसे राहत देने में सफल रही है। इसीलिए समाज व्यवस्था को बदलने के लिए 'विद्रोह' आवश्यक है और यही समूचे व्यक्तित्व को छू भी सकता है।

पश्चिम के लेखकों का विद्रोह 'बास्टर्ड' संस्कृति के खिलाफ है। पूंजीवादी देशों के लोग विषमता में कसमसा रहे हैं, तो साम्यवादी देशों में दुब्चेक और एवतुर्शेंको जैसे लोगों की कतार बनती चली जा रही है। दोनों ही ओर चिनगारी है। किन्तु बीट और हिप्पियों का विद्रोह सत्ताधारियों के लिए तमाशा बना हुआ है। ये खुद बीमार साबित हो रहे हैं। इनका सूफियाना लहजा उतना नहीं चौंकाता जितना हंगरिग वालों के करतब। निस्सदेह कलाएँ अपरूपता की ओर जा रही हैं, किन्तु कला में सौन्दर्य-बोध के स्थान पर विकृति भी उतनी जायज नहीं रही, जितनी हिंसा। वीभत्स और भयानक रसों मे सराबोर हैपनिंग पीढ़ी कभी वियाना के स्टेज पर बकरी के बच्चे को काटकर उसका खून दर्शकों पर छिड़कती है, कभी कला के नाम पर मुर्गी, मोटर, मोटर साईकल और पुस्तकों की बलि देती है। यह समस्त विद्रोह दिशाहारा है।

इस परिप्रेक्ष्य में 'भारतीय जन मानस' का विद्रोह तीन रूपों में मुखरित हो रहा है। एक ओर संसद और विधान-सभाओं में जूतों, चप्पलों, थप्पड़ों, और घूसों का ग्राम प्रयोग, देश के अपरिपक्व मस्तिष्क वाले छात्रों को अपनी अनहोनी और अनकरनी करने के लिए प्रेरित कर रहा है, दूसरी ओर साहित्य के क्षेत्र में बंगला, तेलगू, हिन्दी और मराठी का नवलेखन उस विद्रोह और आक्रोश को उभार रहा है। तीसरी ओर क्रांति के समर्थक नक्सलपंथियों का विद्रोह छापामार कार्यवाहियों को मूर्त रूप दे रहा है। बंगाल की भूखी पीढ़ी के विद्रोह की मूल प्रेरणा बीट-आन्दोलन से प्राप्त हुई है। 'चौंकाने' और 'हल्की-सनसनी' पैदा करने जैसी चीज तो इन्होंने दी है, पर तहलका मचा देने वाली चीज तो फिर भी नहीं आ पाई है। इनके विद्रोह ने सरकारी तंत्र के आगे घुटने टेक दिये। दिगम्बर पीढ़ी ने रिक्सा वाले और होटल के बैरा से अपने काव्य-संकलनों का उद्‌घाटन करा के सर्वहारावर्ग के प्रति सौहार्द्र और सहानुभूति का परिचय देते हुए धूर्त नेताओं के प्रति वितृष्णा का भाव तो पैदा किया, किन्तु इनकी कविताएँ अपनी ढपली से अपना राग निकालने वाली साबित हुई हैं। हिन्दी की अकविता का विद्रोह, पारमरति का विद्रोह है। नारी-शरीर के नोचने-कचोटने का विद्रोह है। इस अघोरी कविता में जिघांसु चीत्कारें मात्र हैं।

विद्रोह का सही रूप कमलेश, धूमिल, रघुवीर सहाय, और लीलाधर जगूड़ी आदि की कविताओं में, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की 'लड़ाई' जैसी कहानी में है। इनमें भी छटपटाहट तो है, पर 'निकलजाने' या कोई और 'ठौर' खोजने जैसी बात नहीं है।

३. जिघांसु चीत्कारें और कापालिक साधना—

साहित्य में यौन-प्रसंगों की भरमार डी॰ एच॰ लारेंस (लेडी चटर्लीज

सदर, सन्स एण्ड लवर्स), जेम्स ज्वायस (यूलिसीज) जैसे लेखकों के समय से ही प्रारम्भ हो गयी थी, किन्तु बीट कवियों ने उसे और नीचे उतार कर वेश्यालयों तक पहुँचा दिया। जिन्सबर्ग, कैरवाक, कोर्सो, आर्लोवस्की, विलियम बरोज की रचनाओं में यौन सम्बन्धों योनियों, स्तनों, सभोग के संभव और असंभव रूपों और अप्राकृतिक चित्रों की बहुतायत है। आणविक युग की विभीषिका से भविष्य और मृत्यु सन्देहास्पद हो उठे हैं। आज के मारक अस्त्र-शस्त्रों से सन्त्रस्त व्यक्ति जीवन और जगत की क्षुद्र वासनाओं मे लिप्त हो रहा है। यही कारण है बीट और हिप्पी पीढ़ी में यौनाकर्षण, भोगवाद, कामुक व्यवहार, आत्मरति, विषम लैंगिक प्रवृत्ति, परभोग-सुख की मात्रा निरंतर बढ़ती चली जा रही है। जापान में हैपनिंग पीढ़ी के एक सदस्य प्रादिवि ने एक फिल्म बनाई है- जो सेक्स और उसमें सेक्स के सिवा कुछ नहीं है। इसी तरह हैपनिंग के एक समारोह में शिशु जन्म की समस्त प्रक्रियाओं से सम्बन्धित एक वीभत्स और कुत्सित फिल्म दिखाई गई। इस तरह कला और साहित्य में यौनाकर्षण नयी बर्बरता को जन्म दे रहे हैं। यह बात नहीं, अधिकांश लेखक ऐसा जान-बूझ कर चित्रित करते हों-महानगरों मे सेक्स गाजर-मूली हो गया है। अमेरिका के एक दार्शनिक के पास मिलने के लिये आये हुए छात्रों ने जब यह बताया कि उन्होंने साथ आने वाली लड़कियों को कई बार भोगा है, तो उसे बड़ा अचरज हुआ। इसी तरह अमेरिका के एक गर्ल्स स्कूल का सर्वेक्षण करने पर पता चला कि चौदह से अट्ठारह वर्ष की आयु वाली ८० लड़कियों में से लगभग सत्तर की चौदह वर्ष की आयु होने से पूर्व ही सभोग का अनुभव हो चुका था। उनमे से दस को यह अनुभव अपने पिताओं द्वारा हुआ था।

इंगलैंड में होमो-सेक्सुअलिटी को जायज व कानूनी करार देने के लिए बड़ा हल्ला मचा था। 'पोइट्री' और 'टवन्टीएथ सेंचुरी' में समलैंगिकों की डायरी एवं संस्मरण निरन्तर प्रकाशित होते रहे हैं। जापानी उपन्यास 'कन्फेशन्स आफ ए मास्क' में एक 'होमो सेक्सुअल' युवक का आत्म-विश्लेषण विस्तार से चित्रित हुआ है। 'दि सेलर हू फैल फ्राम ग्रेस विद द सी' मे 'नौबुरू' दरवाजे के एक छेद से अपनी मा को एक नाविक के साथ सभोग करते हुए देखता है और इससे न तो उसे धक्का लगता है, न पाप का अनुभव होता है।

भूखी पीढ़ी मे सेक्सी गुब्बार उठा था, पर वह जल्दी ही ठंडा पड़ गया। हिन्दी में यों तो कपड़े उतरवाने की परम्परा जैनेन्द्र और अज्ञेय से प्रारम्भ हो गयी थी, किन्तु यौन व्यवहारों को घृणित शब्दावली मे पिरोने और जिघांसु चीत्कारों के भ्रूण को अघोरी मुद्रा मे सेने का कार्य तथाकथित अकवितावादियों ने ही किया है। इन कविता में जंघाओं, स्तनों, योनि, लिंग सभोग के वाजिब, गैर-वाजिब तरीकों का

चटखारे ले-लेकर वर्णन हुआ है। इस पटकारेश्न में कामुक और कामिक पात्रों का आत्म-दहन मात्र था, वह भी काल्पनिक और मानसिक। 'मेरी औरत के साथ संभोग करने' और 'हर औरत के साथ लेटने की इच्छा' ने रहे सहे आदमी को कुत्ते से भी बदतर बना दिया है।

प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' में वेश्याओं के जीवन का बड़ा कारुणिक चित्र खींचा है। वे चाहते तो चटखारे लेकर वेश्यागामियों की काम-क्रीड़ा का 'रोचक' वर्णन कर सकते थे, किन्तु कलाकार की प्रतिभा विकृत से विकृत तथ्य को कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करने में है, यही उसकी सृजनात्मक कसौटी है। इसीलिए बर्दयफ कहता है कि संभोग में निजी, भीतरी, और असाधारण जैसी चीज है ही नहीं। संभोग मनुष्य को पशुस्तर पर ला देता है और आन्तरिक प्रतिभा को अवरुद्ध कर सौन्दर्य-बोध को विकृत कर देता है। साहित्य में यौन-प्रसंगों की संकेतात्मक अभिव्यक्ति सुरुचि की परिचायक कही जा सकती है। अनावृत्त सौन्दर्य स्थायी आकर्षण का केन्द्र नहीं रहता। यौन-प्रसंग अग्राह्य, अश्लील और विकृत नहीं है, किन्तु उनको मूर्त रूप देते समय कलाकार की भावना ही उसे गलीज कर देती है।

४. अलगाव का रेंगता सांप और रेशम का कोड़ा—

अलगाव और अकेलापन अधुनातन परिवेश के संपोले हैं। आदमी के बीच जो अजनबीपन और परायापन है, वहीं वस्तुतः अकेलापन है। अकेलेपन की अपनी उत्तेजनाएं हैं, तेज मदिरा के समान सस्ती भी अकेलापन, सामाजिक अलगाव और एकान्तवास पृथक्-पृथक् पर्थ ढोते हुए शब्द हैं। सामाजिक अलगाव परिवार और समुदाय से कटाव है। यद्यपि अकेला व्यक्ति सामान्यतया सामाजिक अलगाव या परिवेश से कटाव की शिकायत करता है, लेकिन समाज से कटा हुआ व्यक्ति सदैव अकेलेपन की शिकायत नहीं करता और कम से कम सामाजिक सम्पर्कों से सन्तुष्ट रहता है।

आज के महानगरों में आधुनिक ब्लाक्स, फ्लैट्स से घिरे व्यक्ति, निजी सीमाओं में बन्द, अकेलेपन को भोगते रहते हैं। नगरों में इस अलगाव के कारण मृत्यु-बोध तब उभरता है, जब दूधवाला दूध की बोतलें समेटने आता है, नीचे भीड़ का सैलाब निरर्थक दौड़ता, भागता नजर आता है। आकाशवाणी के माध्यम से पुत्र और पुत्रियों के लिए अपील प्रसारित होती है। टेलीविजन और अखबारी इश्तहारों से ... है कि कौन कपड़े पहनना ठीक है? किस रोटी का इस्तेमाल किया ... टॉनिक स्वास्थ्यप्रद है? बगल का पड़ोसी ऐसा लगता है जैसे दूसरी ... हो। भाषा के ठण्डेपन से सम्प्रेषणीयता लगभग समाप्त हो चुकी है।

ाधकाम की इस जिन्दगी में पारिवारिक सम्बन्ध टूटते चले जाते हैं। बच्चों को न्त माता-पिता की सूरत देखे कई रोज हो जाते हैं। यह अलगाव प्रतिक्रियात्मक ।यता, टूटते-परिवेश, बदलते माहौल और उपेक्षित शैशव के कारण उत्पन्न ा है :

'नार्मन जिम्स' ने एक स्थान पर लिखा है कि समस्त मानव इतिहास उनके ेशन को छितराने के लिए किया गया प्रयास है। आज के अलगाव को रिल्के ने शब्दों में व्यक्त किया है—

> खाली कमरे में अकेली घड़ी की तरह
> प्रत्येक व्यक्ति जीवित है
> एक दूसरे से कतई निरपेक्ष
> एवं भिन्न।

सामाजिक अलगाव और अकेलापन आज के व्यक्ति की नियति है। वह प्यार । के लिए भटक रहा है—

> मैं अकेला हूं, ऐसा कोई भी
> नहीं, जिसका प्यार सच्चा हो।
> आदमी पागल हो गया है
> प्यार झूठा हो गया है
> मैं जी भर रो नहीं पाता' (एलन गिन्सबर्ग)

अकेलेपन का सांप आत्मरति का विष उगल रहा है। इस अलगाव से आदमी ण्ड हो जाता है, टूट जाता है, बिखर जाता है, भावनात्मक तनाव से पीड़ित हो ा है, लेकिन कलाकारों, बौद्धिकों और साहित्यकारों का अलगाव 'सिज़ो-फ्रेनिया' से पीड़ित अकेलेपन या सम्प्रेषणीयता के अभाव से उनमें स्वभावतः ेलेपन से भिन्न है। कलाकारों, बौद्धिकों और साहित्यकारों का अलगाव मौलिकता अधिकता के कारण है। यदि वे अपनी सम्प्रेषणीय-अभिव्यंजना में पूर्णतया सक्षम ो इनको समझने वाले समुदाय में इन्हें स्थान अवश्य मिलता है, लेकिन इससे ्गत अलगाव में वृद्धि हो जाती। इसका कारण यह है कि जितना अधिक वह र्ण और के साथ सम्प्रेषण में सक्षम होगा, उतना दैनिक जीवन के वास्तविक ्दों से कटता हुआ चला जायेगा। वह व्यक्तित्व में काम चलाऊ समझौता करने लिए बाध्य हो जायेगा।

लेकिन यह व्यक्तिगत अलगाव जो परिवेश की देन है, साहित्यकार को अकु-र देता है। फ्रेंज काफ्का ने सन् १९१५ में इसी वेदना को व्यक्त करते हुए लिखा —'ऐसा यहां कोई नहीं है, जो मुझे पूरी तरह समझ सके।' यही कारण है कि

वह अपने लेखन में टूटने के अलावा कुछ नहीं दे पाया। द कासल' का नायक कासल जिन्दगी भर इसी अभिशाप को झेलता रहता है। अकेले आदमी के विचारों से लड़कर किसी निष्कर्ष तक पहुंचने की जिद कितनी घातक हो सकती है, इसका करुण उदाहरण नीत्शे से बढ़कर कौन होगा। कीर्केगार्द और नीत्शे दोनों अकेले थे। दोनों को सहानुभूति नहीं मिल सकी थी। विसंगतियों के संसार में अभिशप्त 'अकेले' मनुष्य की करुणव्यथा ही काम के चिन्तन और स्वयं के इतिहास का विषय है। कीर्केगार्द धर्म की आड़ लेकर अस्तित्व के मूलभूत प्रश्नों में उलझ गया। इधर नीत्शे की यह चुनौती कि क्या अकेला और ईश्वरीय आस्था से रहित मनुष्य जी सकेगा ? आज बीसवीं सदी के हर आदमी की समस्या बन गई है। गत महायुद्धों की विभीषिका ने आज के आदमी के तन-मन को ऐसा जर्जर किया है कि न तो उसे सनातन मूल्यों पर विश्वास रहा, न आदर्श, वीरता और ईमानदारी में। आज वह अकेला है और अकेलेपन की स्थिति में रहने को अभिशप्त है।

फिर भी सृजनशील लेखक के लिए अलगाव से मुक्त होना नितान्त जरूरी हो जाता है क्योंकि जीवन को जीने, देखने, भोगने और महसूस करने से ही वह कुछ दे पायेगा और इस 'देने में' उसकी नियति रेशम के कीड़े जैसी रहेगी। आज का साहित्यकार इस नियति को ओढ़ने में अभिशप्त है।

५. ईश्वर के हत्यारों की जमात और फांसी का फन्दा—

ईश्वर मर चुका है
और हम
मनुष्य जाति के विलम्बित प्रहर में
जी रहे हैं।

....

ईश्वर मर चुका है।
चर्च उसकी कब्रगाह है। (नीत्शे)

इस तरह मनुष्य ने ईश्वर की हत्या करके मृत घोषित कर दिया। ईश्वर की हत्या, वास्तव में नैतिक मूल्यों की हत्या थी। एक आस्था के अवलम्ब की हत्या थी। अधुनातन परिवेश का यह अध्याय बड़ा ही करुणाजनक है। मनुष्य और ईश्वर के बीच का सम्बन्ध 'ऊर्ध्वमुखी' है तथा अन्य वस्तुओं से सम्बन्ध 'अधोमुखी' है। ईश्वर की मौत के बाद ऊर्ध्वमुखी सम्बन्ध समाप्त प्रायः है। रहे अधोमुखी सम्बन्ध, वे हजारों वर्षों से विकारग्रस्त होते चले आ रहे हैं। ईश्वर की मौत के बाद अनैतिकता, यौन-व्यवहार, बेईमानी, धूर्तता आदि जायज और चालू सिक्के हो गये हैं। जीव-शास्त्र और मनोविज्ञान ज्यों-ज्यों मनुष्य को नग्न रूप दिखाते गये नैतिकता के,

सिद्धान्त ज्यों-ज्यों बेमानी होते गये। रोमांसवादी (छायावाद तक) युग का मनुष्य निरन्तर उन्नति में विश्वास करता था, उसके पास ईश्वर का सहारा था, किन्तु अब वह अवलम्ब भी नष्ट हो गया। अब मनुष्य सोचता है मेरा जन्म किसी नियति के अन्तर्गत नहीं हुआ है, हम आकस्मिक घटनाएँ हैं।

आज नैतिक मूल्य घिसते-घिसते इतने रूढ़ हो चुके हैं कि वे रूढ़िवादी व्यक्ति की जड़ता को छिपाने वाले मुखौटे भर रह गये हैं। इसीलिए आज का साहित्य नैतिक मूल्यों की चर्चा नहीं करता। आज का मनुष्य हत्यारा, चोर, बेईमान, डाकू, लुटेरे, नकाबपोश, दलाल, वेश्यागामी, समलैंगिक, अनाचारी, व्यभिचारी, आत्मरति में लीन, परोत्पीड़क और अपराधी है। ज्यांजेने, विलियम बरोज और नार्मन मेलर आदि ने तो साफ कह दिया कि हमारी संस्कृति बजर और अनुर्वरक भूमि है। हम एक पागल और अपराधी दुनियाँ के निवासी हैं, जिसमें मानवघाती राजनीति, परोत्पीड़िक हत्या, मौन विकार और आत्महत्या के अतिरिक्त कुछ नहीं। नैतिकता की जगह बर्बरता जन्म लेती जा रही है। मैथ्यू आर्नल्ड के शब्दों में—'हम भटक रहे हैं, दो संसारों के बीच, एक मृत, दूसरा जन्म लेने में असमर्थ'।

यों नक्कारे की आवाज में तूती (साहित्यकार) की कौन सुनेगा, क्योंकि मनोवृत्ति में परिवर्तन इस कदर आया है कि आज का आदमी नैतिकता और आदर्शवाद से घृणा करता है। प्रेमचन्द ने युग के रुझान को देखकर 'गोदान', 'कफन', और 'पूस की रात' में अपना दृष्टिकोण बदल दिया था। 'चेरी', 'स्वाइ', 'माई ऐंटानिया', 'द हाउस आफ डेड', एलाबिक फार दि नाइट' में मानवीय अच्छाइयों का जो खाका है, वह आज की सामिक' और परिवेश में खपता नहीं है। लेकिन अनुत्तरदायी संवेदनाएँ कभी भी उत्तरदायी संवाहक नहीं हो सकती हैं। दुनियां के बदलाव की इच्छा करने की अपेक्षा घृणा करना पाखण्ड है। सभी व्यक्ति भले और सुखी होना चाहते हैं, यह जैविक सत्य है। इसी से लेखक जो मूल्यहीन मानव की मूर्खता और लाचार को चित्रित करता है, वह वास्तविकता तो है, किन्तु सत्य नहीं।

६. तिरते अपोलो अन्तरिक्ष यान, रिसती मानवता और हिरोशिमा की खौफनाक कराह—

राइट बन्धुओं के ग्लाइडर्स से लेकर अपोलो-अन्तरिक्ष-यानों तक, जेम्स वाट की भाप शक्ति से लेकर आइन्स्टीन और हिसेनबर्ग की अनुशोधों तक, न्यूटन, गेलीलियो और कापरनिकस से नालिकर तक विज्ञान के चरण मानवीय परिवेश को दीर्घ आयाम देते, उसकी आकांक्षाओं को मूर्त करने में समर्थ रहे हैं। इन आविष्कारों ने मनुष्यों की सुविधाओं को तो बढ़ाया ही साथ ही उसके अभावों का विलोपन हुए

तक को जैवन्तता को समूचा निगल गया। ७५,००० जाने गईं। इतने ही घायल हुए कराहते रहे। २-३ वर्ष पूर्व सोवियत रूस ने प्रान्तरिक्ष मे प्रगुप्रम रखने वहां से बमबारी करने में समर्थ प्रणाली का जो विकास किया है उससे प्रम-ा की संसद में मौजूदा प्रक्षेपणास्त्र-विरोधी-व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिए व पड़ने लगा है। इसे सुदृढ़ करने के कार्यक्रम में प्रनुमानतः ५० प्ररब डालर खर्चा प्रायेगा। इधर रूस प्रौर प्रमेरिका प्राधुनिकतम शस्त्रास्त्रों की दौड़-होड़ में ा है, जो एशियाई प्रौर प्रफ्रीकी देशों के जीवन स्तर मे निरन्तर गिरावट प्राती रही है। प्रकाल, भूख, बाढ़, सूखा गरीबी से ग्रस्त, पिचके पेट, प्रौर सूखी हड्डियों वाले देशों का, मानवघाती प्रस्त्रों-शस्त्रों के निर्माण में प्ररबों-करोड़ों फूंकने देशों द्वारा, सरे प्राम उपहास किया जा रहा है।

कापरनिकस ने जब प्रचानक एक दिन इस धरती को ब्रह्माण्ड का केन्द्र होने गौरव से वंचित कर दिया था। तब धर्म के पण्डों मे बड़ी खलबली मच गयी। किन्तु प्राज का विज्ञानी समाज इतना जड़ प्रौर खोखला हो गया है कि प्राज कोई वैज्ञानिक कहता है पृथ्वी की प्रायु ४ प्ररब वर्ष की है, दूसरा कहता है हीं, केवल २ प्ररब वर्ष की है, एक कहता है चन्द्रमा की चट्टानों के नमूनो से मा मे पानी होने का प्राभास होता है, दूसरा कहता है चट्टानो के नमूनों मे ी की मात्रा विद्यमान ही नही है। केलीफोर्निया के वैज्ञानिक कहते हैं कि चन्द्रमा, ी का भाग नही है, उसकी प्रायु पृथ्वी से पुरानी है, तब प्राज का प्रादमी नहीं ता।

लिलीपुटियन बच्चे प्रौर सोये हुए राक्षस की दीवार—

इन हालातों मे प्रघुनातन परिवेश मे जीने वाला व्यक्ति दिग्भ्रमित है। ग्गनैंस' प्रौर 'क्या गुजर जायेगा' की विडम्बना उसके सिर पर सवार रहती है। बड़े, शक्तिशाली सगठनों की प्रधिकेन्द्रित प्रणाली ने उसके प्रस्तित्व के विनाश भय प्रौर प्ररक्षित होने का प्रातक खड़ा कर दिया है। प्रध्यात्मशून्य ससार ने मनाम, बुद्धिहीन, भ्रमित, मूल्यहीन, प्रौर विवेकशून्य बना दिया है। वह जानता सका प्राक्रोश जनमत की चढ़ी हुई नदी मे सड़ा हुमा काठ है—

न में कमन्द हूं
न कवच हूं
न छंद हूं
में बीचों-बीच से दब गया हूं
में चारों तरफ से बन्द हूं
में जानता हूं कि इससे न कुर्सी बन सकती है

१७

अनेक लहजों में लरजती कविता वनाम सातवें दशक की कविता

बहुधा यह कहा जाता रहा है कि कविता में कवि की अभिप्रेत-व्यंजना की अपेक्षा विषय-वस्तु का स्थान गौण रहता है। व्यापक संदर्भों मे यह बात सही भी हो सकती है किन्तु दूसरी ओर यह भी सत्य है कि कवि के चिन्तन और मनन से मथित विषय-वस्तु भी अपनी मूलभूत रेखाओं में, अन्वेषण की महत्ता को प्राप्त कर सकती है। यों, दोनों ही स्थितियां समय-समय पर काव्य को गति देती रही हैं।

विगत दशक की कविता यानी तथाकथित साठोत्तरी कविता का सही मूल्यांकन शिल्पाभिव्यंजना की अपेक्षा कथ्य और उसकी भंगिमा के आधार पर ही हो सकता है; क्योंकि शिल्प का स्थान प्रयोग-युग के बाद शनैः शनैः विरल होता गया। साठोत्तरी कविता, जिसका वास्तविक अभ्युदय सन् ६२ के चीनी-आक्रमण के बाद हुआ, एक ऐसी रेखा है, जहां से हिन्दी कविता ने नया मोड़ लिया, वह मोड़ युग के नवीनतम रुझान और समय की भाषा और मुहावरे की संलग्नता से सम्पृक्त और यह निर्विवाद सत्य है कि साठोत्तरी पीढ़ी का स्वर अपने समय के स्वर से एक जुड़ा हुआ है गो कि भाषा जन जीवन के निकट यानी सपाट बयानी पर आकर अपनी लाक्षणिक एवं व्यंजनात्मक गरिमा से काफी दूर चली गई है, जब कि आलोचना अपने वाह्याडम्बर को संजोये हुए उस इजहार को वहन करने मे असमर्थ रही है।

साठोत्तरी पीढ़ी की कविता मे दो स्वर प्रमुख रूप से ध्वनित हुए। एक स्वर पिछली पीढ़ी के मोहभंग का था जो स्वतन्त्रता के बीस वर्ष पश्चात् अचानक ही सन् १९६७ के आस-पास सुनाई पड़ने लगा और वह अवधि बाईस से तेईस वर्ष तक लम्बी होती चली गई। इसके मूल में अकेला चीनी आक्रमण ही कारण नहीं था, अपितु पाकिस्तान का कच्छ पर आक्रमण, कच्छ न्यायाधिकरण का दुभावनापूर्ण निर्णय और ताशकंद घोषणा भी सहवर्ती तथ्य थे, जिनसे जन-मानस के साथ बुद्धिजीवियों का भी मोहभंग हुआ।

दूसरा, प्रमुख स्वर विद्रोह का था। इस युवा विद्रोही पीढ़ी ने न तो मोह पाला था और न इस टूटन की प्रक्रिया का ग्रहणाम किया था। इस विद्रोह के कुछ कारण भारतीय-परिवेश-जन्य थे और कुछ कारण समसामयिक अन्तर्राष्ट्रीय-चेतना से जुड़े हुए थे। भारतीय परिवेश की विसंगतियाँ सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक स्थितियों से प्रसूत थी। कांग्रेस सल्तनत ने अपने दीर्घ प्रशासन के दौरान जो नारे ही नारे उछाले थे, पंचवर्षीय योजनाओं के प्रारूप, तत्सम्बन्धी लम्बे-चौड़े वायदों और वक्तव्यों का जो कुहासा उठाया था, उससे जनता की हालत बदस्तूर बनी रही। पचवर्षीय योजनाओं मे २१० अरब रुपये फूंकने के बावजूद भी गरीबी, बेकारी, मँहगाई, भुखमरी, अकाल, बाढ, साम्प्रदायिकता, जातिवाद नेताई-कुर्सी-मोह, और विदेशी भाषा न केवल बदस्तूर रहे अपितु रक्त बीज की तरह फलते-फूलते रहे।

राजनीति मे गैर काग्रेसवाद का जो दौर आया, उसने सत्ता संघर्ष और दल-बदल की नीति को अपनाकर देश और जनता की हानि की। भूतपूर्व कांग्रेसी दल-बदल कर मुख्य-मंत्री बने। जिन राज्यो मे संविद घटकों ने समान कार्यक्रम के लिए कदम उठाये, उनमें परस्पर स्वार्थ संघर्ष होने से संगठन कायम न रह सके। इस राजनैतिक अव्यवस्था, अनैतिकता और आयाराम-गयाराम की कुत्सित राजनीति ने दूसरे दौर मे जनता को झिंझोड दिया। मँहगाई और गरीबी के पाटों में भारतीय जनता का अधिकांश भाग पिसता रहा। इसी को आधार बनाकर नक्सलपंथियों का विद्रोह प्रारम्भ हुआ। बगाल की अपनी सामाजिक सरचना सम्बन्धी समस्याएँ थीं, जिन्होंने इस विद्रोह को इस दिशा में पल्लवित किया। दूसरी ओर भविष्य की असुरक्षा, सामाजिक और आर्थिक विषमता और यान्त्रिक अध्ययन-अध्यापन से ऊबकर छात्र वर्ग की 'केम्पस-क्रांतियाँ' हुईं। गो कि उनके पीछे एक निश्चित दर्शन, निश्चित लक्ष्य और लावाई-ताप न होकर कतिपय स्वार्थों की 'कंठी' थी जो उनके पूरा होते ही टूट गई।

सम-सामयिक अन्तर्राष्ट्रीय चेतना से जुड़े हुए कारणों में विज्ञान की भयावह और विध्वंसक शक्ति, मानवीय सत्ता का सकुचन, अधिनायकवादी और अतिमानवीय संगठनों का बोलबाला, पूँजीवादी व्यवस्था के दुष्परिणाम, अस्तित्व के प्रति सजगता, आधुनिकता के अभिशाप आदि अन्यान्य ऐसे कारण थे, जिनसे युवा-पीढ़ी और भी विक्षुब्ध हो उठी। उसका तनाव, आक्रोश, विद्रोह और क्रांति की आकांक्षा एक साथ प्रबल हो उठी। इन परिवेश-जन्य दबावों से अनुस्यूत विद्रोह ने हिन्दी की साठोत्तरी कविता में कई रूप धारण किये। विद्रोह का एक रूप अकवितावादियों की मध्य-कापालिक वृत्तियों में मिलता है जो भाव-बोध के स्तर पर रीतिकालीन के अधिक समीप या तो अपनी जिघांसु, गलित और कुत्सित शब्दावली में

कापालिकों के अधिक समीप। इनका वायवी, नपुंसक और ऊलजलूल विद्रोह उतना ही हास्यास्पद था जितना बीट, हप्पी और हैपनिंग पीढ़ी का। विद्रोह का दूसरा स्वरूप डॉन-क्विक-जोटई' था जो शाब्दिक-नेजो से व्यवस्था सम्बन्धी शत्रु पर अन्धाधुन्ध प्रहार कर रहा था। इसकी प्रेरणा अस्तित्ववादियों और पाश्चात्य चिन्तकों के क्रांतिकारी विचारों ने दी जो उस सबको भारतीय परिवेश पर लादना चाह रहा था। विद्रोहियों का तीसरा वर्ग, कुछ समझदारी के साथ राजनैतिक-चेतना को आत्मसात् करके राजनीति परक कविताएँ लिख रहा था। एक ओर अकवितावादियों के सृजन में तथाकथित 'देह की राजनीति, थी तो दूसरी ओर इन कवियो की कविताएँ राजनीति विषयक थीं। यो राजनीति-विषयक कविताएँ लिखना इतना बुरा नहीं है जितना राजनीतिक-लकवे से पीड़ित होना।

इन दो प्रमुख काव्यगत-सवेदनाओं के संदर्भ में यदि पिछले दशक के समस्त काव्य-संकलनों पर दृष्टिपात किया जाये तो वहाँ काव्य एव सवेदना से विविध स्तर और अभिव्यक्ति के विविध लहजे परिलक्षित होते हैं। पिछले दशक के काव्य-संग्रहों को काव्य-प्रवृत्ति के आधार पर चार भागो मे विभक्त किया जा सकता है—१. छायावादी ध्वंसावशेष, २. नयी कविता के ध्वंसावशेष, ३. सम सामयिक चेतना के संवाहक, ४. काव्य सम्भावनाओं के इतर संग्रह।

एक लेखक ने एक स्थान पर लिखा है कि जहाँ 'चांद का मुँह टेढ़ा है' पढ़कर पाठकों की रुची कविता की ओर हुई थी वहाँ 'कितनी नावों में कितनी बार' पढ़कर वह लगभग समाप्त हो गई। यह कथन अपने मे कठोर होते हुए भी सत्य है। 'कितनी नावों मे कितनी बार' मे अज्ञेय का रुझान पत की तरह अध्यात्मिकता की ओर उत्तरोत्तर अग्रसर होता गया है। 'आँगन के पार द्वार' से ही यह माना जाता रहा है कि अज्ञेय अपनी लीक से हट रहे हैं। कितनी नावो में कितनी बार' से यह तथ्य और भी संपुष्ट हो गया कि वह रंग और भी पुट पाकर गहरा हो गया है। 'कितना नावों मे कितनी बार' की काव्य-चेतना नितान्त वैयक्तिक और रहस्यात्मक रूपों में अमूर्तित है। इस संग्रह में न काव्य की समकालीन मुद्रा है और न अनुभव, संसार की नई खोज, न काव्य भाषा का कोई नया आयाम, न कविताई मुहावरे का अनूठापन। इस दृष्टि से 'कितनी नावों में कितनी बार' एक कविताई-युग का पट क्षेप है। जबकि 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' ने कविता-जगत मे बड़ी हलचल मचा दी थी। एक समय था जब मुक्तिबोध संघर्ष करते-करते अपरिचित गलियों मे खो गये थे, जब उन्हें न किसी ने टेरा था, न बाचा था, किन्तु वह मौत भी कितनी खूबसूरत थी जो महाप्राण के बाद आदमी की नई पहचान दे गई। फिर तो काव्य-जगत मे एक हलचल ही मच गई कि हिन्दी में प्रतिभ और संघर्षशील कवि तो दो ही हुए हैं—पहले निराला और

दूसरे मुक्तिबोध। इस निथार में अज्ञेय के साहित्यिक-आभिजात्य की कलई धुल गई। वैसे मुक्तिबोध की कविता सम-सामयिक चेतना के जितने निकट है, उतनी तार सप्तक के किसी भी कवि की नहीं। मुक्तिबोध का काव्य-सत्य जीवन के यथार्थ का सत्य था। उसमें जो आत्मज सत्य है, वह जीवन के एकलव्यवत् अन्वेषी का सत्य है, जिसकी चेतना आधुनिकता से अधिक सम्पृक्त है। उसके प्रत्येक प्रतीक एकलव्य, ओरांगउटांग, फणिधर, ब्रह्मराक्षस, विराट् पुरुष आदि में निरी शाब्दिक व्यंजना नहीं है, अपितु उनके परिपार्श्व में चिन्तन का वृहत् कैनवास है जो अभिप्रेत के साथ आत्म-साक्षात्कार की घनीभूत पीड़ा से मुरगित है। वही एक ऐसा कवि था जो अपने को गाली दे सकता था, अपने को कचोट सकता था, और अपनी कलई खोल सकता था, अतः वह सही मायनों में आधुनिक था। मुक्तिबोध ने अपने को कभी नहीं बख्शा। उसका आत्म-पीड़क काव्य इस युग की त्रासदी का वैसा ही चित्रण है जैसा इलियट का 'वेस्टलैंड' अपने काल की विभीषिका का।

काव्य-चिन्तन और काव्य-प्रवादों के ज्वार-भाटों में से जो नाम उछल कर सामने आये, उनमें एक बहुचर्चित नाम राजकमल चौधरी का भी है। काव्येतर रुझान के लेखकों की रुचि किसी कवि के सृजन की अपेक्षा उसके वैयक्तिक जीवन की ओर अधिक होती है। यही कारण है कि चौधरी का औघड़ जीवन जो सामान्य की अपेक्षा 'असामान्य' अधिक था, लोगों को अधिक रुचा। अन्यथा राजकमल के तीन काव्य-संग्रह—स्वरगंधा, कंकावती और मुक्तिप्रसंग मिलाकर भी कवि को कोई रेखा और रंग प्रदान नहीं करते हैं। कंकावती में अहंवादी प्रगल्भता, सामान्य शिष्टता से संयुक्त होकर कवि-रूढ़ि का प्रतीक बन गई थी। 'मुक्तिप्रसंग' में 'वह और भी ठोस बनकर सामने आई। गो कि 'मुक्ति प्रसंग' की अपेक्षा 'कंकावती' अधिक तारतम्य और सुनियोजित समायोजन था। 'मुक्ति प्रसंग' का बिखराव अस्पताल, बीमारी, इलाज और इधर-उधर उड़ती चन्द खबरों का ऐसा अजूबा है, जो मानसिक लहरों के अमर्यादित आवेग को अधिक उजागर करता है, कविता-क्रम के जीवन सत्य का कम। जीवन-सत्य भी टकरा-टकरा कर विलीन होता, फिर नये रूप से उठता-फिर गिरता दिखलाई पड़ता है। 'कोलाज' और मार्ग्रे ब्रतों के संकेतों से परिचालित, भूखी और बीट पीढ़ी के दर्शन से मंडित यह कविता अमेरिका की विकृत कविता की नकल भर है। सन्दर्भों की हेरा-फेरी के साथ शाब्दिक आक्रोशों ने बिम्बपरता को भोथरा कर दिया है। अतः शाब्दिक खड्ग भी निरुद्देश्य प्रहारों से बेअसर हो गये हैं। राजकमल चौधरी का यह आक्रोश और विद्रोह उतना ही हास्यास्पद और बेअसर है जितना बीट पीढ़ी का। यह एक ऐसे विकृत रोग से पीड़ित बुद्धि-मसीहाई वक्तव्य था जो वर्जनाहीन उद्दंडताओं को अपनाते हुए भाषा के साथ जगह-जगह छेड़खानी करने से नहीं चूका है।

ग्रकों में समेटे गये कवियों में गिरिजा कुमार माथुर, प्रभाकर माचवे, ण व्यास, भवानी प्रसाद मिश्र, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, और विजयदेव ाही आदि के संग्रह भी इस दशक में प्रकाशित हुए हैं। प्रभाकर माचवे का धरातल उसी युग-चेतना का संस्पर्श करता है जिसे अज्ञेय और मुक्तिबोध किन्तु इन राहों के अन्वेषियों के काव्य-जगत, रचना-प्रक्रिया, और संवेदन- कितना अन्तर था, इस पर कम ही विचार किया गया है। माचवे की मुँही है जो एक मुँह से अतीत को सहेजती है दूसरे मुँह से अनिर्दिष्ट ी रागमयी परिकल्पना मे खोई रहती है। इसी से माचवे 'मेपल' में सिन का कवि है जो सम-सामयिकता से गहरी संलग्नता का दिखावा ा कभी उस पर व्यंग्यात्मक प्रहार को सन्नद्ध होता है, कभी उदासीन ठ के खड्ग को वापस म्यान में रख लेता है। हिन्दी की आधुनिक ा आकलन बड़े ही गलत ढग से हुआ है। जिनकी अन्तश्चेतना र्मांटिक थी, वे भी जबरन प्रयोगवादियों मे ठूँस दिये गये जैसे माचव ी। यदि माचवे की सपाट बयानियों को निकाल दिया जाये तो तः छायावादी संवेदना का सग्रहभर रह जायेगा। माचवे को पाठकों को भी पूरा भरोसा नहीं है। 'मैं ने देखा' और 'मैं ने सोचा' वाला माचवेई रेजाकुमार माथुर के 'जो बंध नही सका' में प्रचुर मात्रा में है। कई न दोनो कवियों मे अद्भुत साम्य है। दोनों 'मैं ने देखा' से बात को उठा- ा समझ की कोई 'रहस्यात्मक बात' कहकर, व्याख्या करने मे लीन हो ाकर दुहराने और तिहराने की प्रक्रिया चलती रहती है। विचारगत खलापन जो माचवे मे है वह माथुर में भी है। दोनों में आदतन लिखने को ढूी भी है।

भवानी प्रसाद मिश्र की जिस गीत फरोश कविता ने कभी ताजगी और केपन से मिश्रित तीखे व्यंग्य का अहसास दिया था, वह टटकापन 'चकित है दुःख' अपनी असफलता का इजहार करने लगता है। 'आसक्ति के आनन्द का छंद हूं। है—इसकी दुम पर पंसा है' जैसी तुकान्त कविताएँ लिखने वाले मिश्र 'चकित है ख' मे अपने पिछले रिकार्ड को बनाये रखने मे असमर्थ रहते हैं। यों 'चकित है ख' मे कुछ सहज शैली की अच्छी कविताएँ हैं, पर ज्यादातर में अविवेकी बन कर ना को सही तौर पर अपना नहीं पाते हैं। इसके विपरीत 'मृग और तृष्णा' के हरिनारायण व्यास चेतना को सही तौर पर अपनाने का प्रयास तो करते है तु चेतना ही ऐसी निगोड़ी है जो उनके भावाई-चौखटों में समाना नहीं चाहती। बरना व्यास की कविता आज के जूझते मानस की ऊर्ध्वोन्मुखी-चेतना की कविता है जो दुहरे आयाम में टूटन की अपेक्षा जिजीविषा को समेट कर चलती है। यो व्यास

की बिम्बधर्मिता, अन्य समकालीन कवियों से पृथक है।

हिन्दी और मराठी की नवोन्मेषी कविता के दौर में कुछ कवियों ने पौरा-णिक मिथकों को लेकर जो कथानकमूलक काव्य लिखने का प्रयास किया, उन्हीं की परम्परा में कुँवर नारायण ने आत्मजयी और दुष्यन्त कुमार ने एक कण्ठ विषपायी लिखा। कुँवर नारायण का नचिकेता 'कठोपनिषद्' के नचिकेता से भिन्न अर्थ में अभिशप्त और भिन्न अर्थ में संकल्पों और यातनाओं को ढोने वाला है। एक मौत के लिए अभिशप्त है तो दूसरा जीने के लिए। वस्तुतः 'आत्मजयी' का नचिकेता अपने अस्तित्व के प्रति अधिक शंकाकुल है। उसकी चेतना और भावोद्दीपन अस्तित्ववादियों के चिन्तन का अनुगमन करते हैं। जीवन और जगत के अस्तित्व के बारे में भारतीय दर्शन बहुत कुछ कहता और सोचता रहा है लेकिन कुँवर नारायण का नचिकेता आज के सन्दर्भों में पाश्चात्य धारणा को लेकर सोचता और कहता है। वह नीत्शे की तरह ईश्वर विहीन जगत के बीच बहुत अकेला है। वह आत्म-बोध की यन्त्रणाओं को झेलता हुआ मनुष्य के पतनोन्मुख तारतम्य का साक्षी है:—

> जीवन में कैसा कुटिल ढंग ?
> ये कैसे विधान-निर्मम जोना प्रबंध ?
> जीवित हूं ? या केवल अपहृत हूं ?
> संज्ञा हूं ? या केवल व्यवहृत हूं ?
> क्यों इतना ऊहा पोह
> यदि अनुकृति मात्र हूं तुम्हारी ?

आत्मजयी आज के जीवन की विशृंखलता, नैराश्य, पतन, शंकाएँ, वैचारिक द्वन्द्व, अकेलापन, अर्थ खोजने की व्याकुलता, आत्मबोध तथा विसंगतियों का वैसा ही दस्तावेज है जैसा अन्धायुग महायुद्धों की विभीषिका के बाद होने वाली टूटन का। इसमें जब चिंतन अधिक मुखर होता है तो काव्य सो जाता है और जब चिंतन सो जाता है तब काव्य जगता है। ऐसे काव्यों में नाटकीयता का समावेश जिस चमत्कार को रचता है उससे कविता छिनक जाती है। अगर उसके साथ भापाई-ठंडापन और जुड़ जाये तो उसमें आवेग, जिसे कवि लाना चाहता है, आ नहीं पाता, आत्मजयी के साथ भी यही है।

कविता से युगीन सन्दर्भों को पुराने मिथकों में खोजना कविता का 'मिथक' बन गया है। चांद का मुँह टेढ़ा है, अंधायुग, आत्मजयी, अप्रस्तुत मन, चक्रव्यूह तथा एक कण्ठ विषपायी में सन्दर्भ बिम्ब तथा प्रतीक पौराणिक ही हैं। इन्हीं की तरह विजय देव नारायण साही के मछली घर में पौराणिक बिम्बधर्मिता का प्राचुर्य है। इतना ही नहीं रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से ये कविताएँ उसी लय में थिरकती हैं

नई कविता का वैशिष्ट्य रहा है। फलस्वरूप कविता का ऐसा मिथक रचती हैं
इमें आन्तरिक कसाव की वैविध्यता के बावजूद शैली को एक-रूपता और उसकी
वृत्ति का अहसास पाया जाता है। शैली और कथ्य का दुहराया जाना ही नई
कविता की बहुत बड़ी कमजोरी रही है। केवल इसलिए कि मछली घर, आत्मजयी
दे की अपेक्षा अधिक भारतीय सन्दर्भों और कथ्य को आगे लेकर बढ़ता है, कोई
आसमान के तारे नहीं तोड़ लेता। साही की कविताओं में भोगे यथार्थ को अभि-
व्यक्ति देने की बेचैनी तो है साथ ही उसके शब्द-चयन मे वह जादुई-गरिमा है जो
ने की स्थिति में चुनौती बन कर सामने खड़ी हो जाती है।

नई कविता की फिहरिस्त में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना एक ऐसे कवि हैं जिनको
के कवि के रूप में अज्ञेय समय-समय पर प्रचारित करते रहे हैं, जब कि एक सूनी
में सक्सेना को नई कविता के एक सामान्य कवि के रूप मे ही जाना जा सकता
काठ की घंटियाँ मे जो एक नाद था, कल-कल था, वह 'एक सूनी नाव' मे रूमानी
व्यंग्यपरक शब्दो की कुहेलिका मे खो जाता है। परिवेश के प्रति सजग-प्रतिक्रिया
जैसा रूप सर्वेश्वर की 'लड़ाई' जैसी कहानियों मे मिलता है – वैसा इस सकलन
हीं, यों परिवेश के साथ कवि के द्वन्द्वात्मक स्वरूप की जगह-जगह बानगियाँ
य मिलेंगी।

'एक युद्ध हर क्षण
मै अपने भीतर लड़ता हूं'

आत्म बोध से—

जिसके पैर में तुम जूते नही दे सकते
उसके हाथ मे बन्दूक देने का क्या अधिकार है?

जैसी युवा-लेखन की कड़क भरी मुद्रा के बीच सर्वेश्वर कहीं-कही तट खोजते
पाते है।

परिवेशगत चैतन्यता इस दौर की निश्चित कविताई-मुद्रा बन चुकी थी।
यद्यपि इन कवियों के उसको झेलने, सहने-न-सहने, नकारने, किलकारने, सहलाने और
फटकारने की अपनी-अपनी अलग-अलग भंगिमाएँ थीं। नई कविता के प्रतिमानों में
डूबने वाले लक्ष्मीकान्त वर्मा अतुकान्त' की कविताओं में अपने मसीहाई स्वरों से
हटकर यथार्थ से अधिक जुड़े हुए हैं। गो कि विषय वही है कि परिवेश मे विघटन,
संत्रास, टूटन, अकेलापन, भद्दापन और विसंगतियाँ है और हम नारकीय कीड़े उसमे
घुल-घुला रहे हैं। इस बाह्य यथार्थ की प्रामाणिक अनुभूति आज की कविता का मूल
स्वर हो गया है। उसे अनेक लीकवादी कवियों ने इतना रगड़ा है कि उसका मुलम्मा
ही उड़ गया है।

भाषा का ठंडापन जो 'आत्मजयी' के स्वरों में प्राण को कुम्हलाता हुआ प्रतीत होता है वह अशोक वाजपेयी के शहर अब भी सम्भावना है में जगह-जगह सुगबुगाता मर है। अशोक की कविताओं का मूलस्वर प्रकृति और प्रेम के इर्द-गिर्द चक्कर काटता हुआ दिखलाई पड़ता है, जब कि ये विषय कल्पनान्तर से इतने घिस-पिट चुके हैं कि उनमें कोई नयापन लाये भी तो नहीं मोहता। यों प्रकृति-बिम्बों की दृष्टि से कुमारमंदिर सायल की कविताएँ, विशेषकर छोटी कविताओं के बिम्बों में जो ताजगी और टटकापन है, वह कम कवियों में दृष्टिगोचर होता है। सूरज सब देखता है की कमजोरी इतनी ही है कि उसमें कहीं दुहराव है तो कहीं संश्लिष्ट तौर पर एकरसता। यों जिस तरह अशोक वाजपेयी की कविताओं में जो आत्म-चेतना और संवेदन के बहुरंगी चित्र मिलते हैं, वैसे ही विजेन्द्र के त्रास की कविताओं में भी। अपने नूतन आंचलिक बिम्बों और शब्द-चित्रों की सघनता के कारण इस कवि का स्वर अन्य समकालीन कवियों की अपेक्षा कहीं भिन्न है।

नये कवियों का रुझान वामपंथी धारा की ओर अधिक रहा है लेकिन अभिव्यक्ति के स्तर पर यह चेतना कुण्ठित हो जाने के कारण निष्प्रभ होकर रह जाती है, अथवा अपनी अक्षमता के कारण अभिव्यक्त नहीं हो पाती है। विजेन्द्र,सायल, बलवीरसिंह नीरज, राजीव सक्सेना, धूमिल और अमृती आदि की चेतना मूलतः वामपंथी होते हुए भी उनकी कविताएँ उसकी आँच से रहित हैं।

वह आँच जो आज की युवा कविता में है, पहले नहीं थी। यों उसके भी कई रूप हैं। युवा कवियों की मानसिकता में उग्रता, विरोध और आक्रोश के स्वरों का उकसाव देने वाले तत्वों में कुछ तत्व बाह्य हैं और कुछ आन्तरिक। कैलाश वाजपेयी जैसे कवियों की चेतना के बीजों का प्रक्षेपण बाह्य जगत से अधिक होता है। यों कैलाश वाजपेयी की कविताओं में उमस, आवेग, उद्वेग, उष्मा, तपन और क्रोध है। उसके कुछ बिम्ब पाश्चात्य जगत की विरोधमूलक कविताओं से लिये गये हैं तो कुछ बिंधा नये, खौफनाक और मारक हैं यथा—खौलते पानी में ताजा कमल, खौलते जल में छूटता बच्चा, मृत्यु दण्ड पाने वाले की आँखों सा अंधकार कैलाश वाजपेयी के विक्षोभ भरे कुछ स्वर बीट स्वरों से अधिक मिलते हैं, किन्तु वाजपेयी के पास अपनी मारक भाषा है जो कविता के चालू मुहावरों से छिटक कर अपना नया संसार रचती है। लेकिन वाजपेयी का यह आक्रोशी स्वर देहात से हटकर काफी पस्त-पस्त और नैराश्यपूर्ण दिखलाई पड़ता है:—

> सारी कड़ुवाहट चुक गयी
> नफ़रत भी बासी हो चली
> क्या करें ? क्या करें अब हम इस
> निचुड़े दिमाग का।

यह सत्य भी है कि विद्रोह जब व्यवस्था का कुछ नही बिगाड़ पाता तो अपने नियता का ही 'भस्मासुर' बन जाता है। एक समय ऐसा आता है जब 'रुटीन-धर्म-युद्ध' से बढ़कर उबाने वाली और कोई चीज नजर नहीं आती। सर्वेश्वर को इसकी सही अनुभूति थी—

> मैं जानता हूं मेरे दोस्त
> हमारा तुम्हारा और सब का गुस्सा
> जगली सुअर को तरह तेजी से
> सीधे दौड़ते हुए निकल जाएगा
> और उस शिकार का कुछ नहीं बिगाड़ पाएगा।

वाजपेयी की चीख की भाषा तब मात्र हुल्लड़ बन कर रह जाती है। 'सपासप कोड़े मारने से', 'लेकिन अब सब मर गया है' और 'शब्द केवल भौंक या मिमियाहट लगते हैं' वाली स्थिति तक आने मे कवि को केवल १–२ वर्ष लगा है। वस्तुत इसके परिप्रेक्ष्य में अनुभूति की प्रखरता और भोगा हुआ यथार्थ न होकर बाह्य प्रभाव की पट-परिवर्तनता है।

कैलाश वाजपेयी जैसा ही आक्रोशी स्वर श्रीकान्त वर्मा की कविताओं में है। दोनों की मारक भाषाओं मे गाली-गलोच भी सम्मिलित हो गई है:—

> टूटी हुई बेंच पर
> बैठा है,
> उल्लू का पट्ठा
> पहलवान।

दोनों के कथ्य और मुद्राओं मे काफी साम्य है। श्रीकान्त वर्मा के एक ही वर्ष में दो संकलन प्रकाशित हुए हैं। दिनारम्भ मे जहाँ छोटी कविताओं का बाहुल्य है वहाँ प्रभाविष्णुता की न्यूनता। माया दर्पण में बड़ी और बेहतर कविताएं हैं।

> 'सारे ससार की
> सड़क पर
> दो टूक कवि
> पेशाव करता हुआ
> चला
> गया है।'

तथा—

> 'सारे शहर की
> वेश्याओं पर
> सूरज
> सवार था।'

जैसी पंक्तियों में ऊष्मा रहित शाब्दिक कलाबाजी है। इस कलाबाजी की परिनाटकीयता जगदीश चतुर्वेदी, श्याम परमार, गंगाप्रसाद विमल, सौमित्र मोहन, मणिका मोहिनी जैसी नई पीढ़ी के अ-कवियों में अपनी चरम सीमा पर थी तो कैलाश वाजपेयी और श्रीकान्त वर्मा में कुछ न्यून। इन्होंने परिवेश के कसमकस का सही नक्शा, विसंगतियों के कारण और स्वरूप का जीवंत रूप प्रस्तुत न कर पाने के कारण परिवेश का वैसा ही अनुभव किया जैसा श्रीकान्त वर्मा ने कहा है—

'मैं अनुभव कर रहा हूं,
सब कुछ,
बस छू कर।'

परिवेश के खोखलेपन को उजागर करने के लिए जिन विद्रोही और अकवितावादियों ने राम-लीलाई मुखौटे धारण किये, वे जल्दी ही उतर गये क्योंकि ऐसा कोई प्रावधान नहीं था कि रात-दिन नाटक करने का लम्बा अनुबन्ध किया जा सके। इन कवियों से थोड़ा छिटक कर समसामयिक ऐतिहासिक-चेतना से अपने को सम्बद्ध करने वाले कवियों में रघुवीर सहाय धूमिल, चन्द्रकांत देवताले, सौदागर जगूड़ी, कमलेश, श्रीराम वर्मा, प्रमोद सिन्हा और सोलाभ आदि की गणना की जा सकती है। रघुवीर सहाय के इस सिरे से लेकर उस सिरे तक दो संकलन छपे हैं। किन्तु सीढ़ियों पर धूप मे उष्मा की गुनगुनाहट तो है, किन्तु निजी अनुभूतियों का वह संकीर्ण दायरा भी है जो आत्महत्या के विरुद्ध मे जाकर कवि के व्यक्तित्व का नया आयाम खोल देता है। जो तनाव श्रीकान्त वर्मा और कैलाश वाजपेयी की कविताओं मे है। वही न्यूनाधिक रूप मे रघुवीर सहाय की कविताओ में भी है, किन्तु फर्क इतना है कि श्रीकान्त इस खोखलेपन और परिवेश-जन्य विसंगतियों में ही कविता की सार्थकता और अपनी मु क्ति निकाल लेते हैं, किन्तु रघुवीर सहाय वहाँ दोनों छोरों पर जूझते हैं—कविता मे भी और जीवन मे भी।

रघुवीर सहाय की कविता आज के राजनैतिक, ऐतिहासिक और सामाजिक यथार्थ का सही दस्तावेज है, जो झिंझोड़ता है, तिलमिलाता है, कोंचता है। राजनैतिक विसंगतियों का ऐसा खाका, चालू भाषा में ऐसे व्यंग्य-परक चित्र अन्य कवियों के पास नहीं है -

गांव-गांव में दिया जन-जन को
विश्वास
नेकराम नेहरू ने
कि अन्याय आराम से होगा
आम राय से होगा नहीं तो कुछ नहीं होगा
गांव का।

सहाय की कविताओं मे औसत मानसिकता का सजीवांकन है। संसद का भोला-भाला मन्त्री, रामलाल, मंथर भटकता मन्त्री मुसद्दीलाल महन्त, तोंद मटका कर हँसती सभा, अकादमी की महापरिषद्, पिटा हुआ दलपति, खिसियाते कुलपति, भीमकाय भाषाविद्, फुदकते सम्पादक, और अध्यापक परिषद् में आँख मारता गृहमन्त्री आदि मे व्यंजनात्मक गरिमा है।

> 'अपनी एक मूर्ति बनाता हूं और ढहाता हूं
> आप कहते हैं कविता की है
> क्या मुझे दूसरों की तोड़ने की फुरसत है।'

में साम्पृत्तिक निस्संगता है। ऐसी नफरत जो पूर्णतया तटस्थ है। रघुवीर सहाय की कविताओं मे राजनीति की अर्थ-हीनता है, निजी बेचैनी है, कस-मसाहट और वे औरे भी हैं जो मन को छीलते है त्रासते है, किन्तु हम उन्हें देखकर भी अनदेखा कर जाते हैं।

राजनैतिक बुराइयों से जूझने में कमलेश, धूमिल, लीलाधर जगूड़ी और चन्द्रकांत देवताले आदि भी सन्नद्ध रहे है। धूमिल की 'पटकथा', प्रमोद सिन्हा की 'ठलघर', जगूड़ी की 'अनैतिक', कमलेश की 'जरत्कारु' आदि कविताएं आज के तनाव, समय की विद्रूपताओं, विसंगतियों, राजनैतिक दुरभिसन्धियों, विडम्बनाओं तथा आज के आदमी की नियति को अधिक उजागर करती हैं। आज की युवा कविता में लहजा, मुहावरा और भाषा आज के है, जबकि समकालीन कवि कैलाश वाजपेयी और श्रीकान्त वर्मा के लहजे में गर्मजोशी, तनाव की उग्रता और खीज का भरपूर चिड़चिड़ापन होते हुए भी कहीं उसमें ठण्डापन है और कहीं भाषा की एकरसता।

सातवें दशक की युवा कविता मे सबसे बड़ा दोष यह है कि उसके कथ्य और भगिमाएं अभिव्यंजना-रूढ़ि से बुरी तरह ग्रस्त हो चुकी हैं जिससे भयकर एकरसता आगई है। यथा—

> बीस साल
> धोखा दिया गया
> × ×
> बीस बरस बीत गये
> लालसा मनुष्य की तिल-तिल कर मिट गई
> × ×
> बीस बरस
> खो गये भरमे उपदेश में

एक पूरी पीढ़ी जन्मी
पली-पुसी क्लेश में (रघुवीर सहाय)
और इतिहास में बीस साल का मतलब
ऐसी दीवार हो गया है
जिसके सामने विकल्प की जगह भी
सिर्फ दीवार है। (परमानन्द श्रीवास्तव)

यही क्या कम है कि मैं सेंत मैंत में
पिछले बीस साल से दुनियां का
महान् गणतन्त्र कहला रहा हूँ। (कैलाश वाजपेयी)

क्या मैं पूछ सकता हूँ
कि आपके संविधान के छाते के नीचे
कितने लोग आ सकते हैं
बरसों पहले आपको इसे बता देना चाहिए था
जिसे बीस बरसों बाद
आपसे मुझे पूछना पड़ रहा है। (देवेन्द्र कुमार)

अपनी पुनरावृत्ति तथा दूसरों में एक सी प्रतिच्छाया, शब्दों के प्रतिशय प्रयोग में भी दिखाई पड़ती है। जनतन्त्र, लूट, दल स्वतन्त्रता, वायदे, योजनाएँ, संविधान, संसद, अकाल, भूख, शान्ति, बेरोजगारी, अमेरिका का पैसा, भीख, देश, जनता, राष्ट्र, भाषा, त्याग, पंचशील, अहिंसा, समाजवाद, चुनाव, कुर्सी, नेता आदि ऐसे 'पेटेन्ट' शब्द हैं जिनका हर कविता में भरपूर प्रयोग हुआ है। और शाब्दिक हेरा-फेरी भी—जनतन्त्र-लोकतन्त्र-प्रजातन्त्र। वायदे-सुनहरे वायदे-लम्बे-चौड़े वायदे-खुशफहम इरादे हिन्दुस्तान की जनता-भारत का भाग्य-भारत की प्रजा-देश की धड़कन-देश का पतन-देश की भूख-देश की जनता-देश की प्रजा-आदि प्रचुर मात्रा में मिलती है।

फिर भी युवा कविता ने जो आज की स्थितियों से टकराने की कोशिश की है, उससे न केवल कविता के चालू मुहावरों में परिवर्तन आया है, अपितु भाषा और शिल्प की दृष्टि से कविता, जन कविता का रूप धारण करती चली जा रही है। भाषा की 'क्राफ्टमैनशिप' को नगण्य मानते हुए युवा कवियों ने चालू भाषा में अपने भावों की अभिव्यक्ति दी है। इसे सपाटपन की संज्ञा नहीं दी जा सकती—क्योंकि चालू शब्दों में गहन अर्थवत्ता ही उसके वृहत्तर लक्ष्य को पूरा कर पा रही है। इस से युवा-कविता आज के पाठक की जानी-पहचानी कविता है। इस नये प्रवाह

बोझिल बिम्बों ग्रौर प्रतीकों के 'नदी के द्वीप' डूब गये हैं। दूसरे शब्दों में भाषा
ी जड़ता एकदम चैतन्य हो उठी है। भाषा केवल इस्तेमाल भर की वस्तु रह गई
। महिमामंडित संस्कृत गर्भित शब्दों का ग्रम्बार ग्रपनी खोल उतार कर सहज
प में ग्रवतरित हो रहा है। यही युवा कविता की एक प्रमुख उपलब्धि है। ग्रक-
ता के सन्दर्भों से च्युत इस समय कविता का रूप निश्चित तौर से गत्यात्मक ग्रौर
र्म-कठोर रहा है। साथ ही इस कविता ने व्यक्ति-सत्य ग्रौर समय–सत्य का सही
ल–मेल स्थापित किया है।

१६

विद्रोह, भारतीय परिवेश और साठोत्तरी भारतीय कविता

भारतीय संविधान द्वारा स्वीकृत भारत की १५ मुख्य सांस्कृतिक भाषाएँ है जो विदेशी भाषा-वैज्ञानिकों द्वारा 'दुराव' को प्रक्षुण्ण बनाये रखने के लिए प्रार्य प्रौ द्रविड़ परिवारों के प्रन्तर्गत बांट दी गई हैं, किन्तु इतनी भाषाओं का होना प्रभिशा नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय साहित्य में विषमताएँ रही हैं प्रौर है किन्तु इन विषमताओं के खोल में भी समान विचारधारा प्रौर संवेदनाओं को खोज जा सकता है। भाषाएं पृथक्-पृथक् हैं, किन्तु विचारों प्रौर कथ्यों में प्रद्भुत समानत है। भारतीय सांस्कृतिक धरोहर एक इकाई है तो ये भाषाएँ उस धरोहर को संजो प्रौर सहेजने के लिए प्रलग-प्रलग माध्यम रही हैं।

भारतीय इतिहास के हर युग में उत्तर-दक्षिण, पूर्व प्रौर पश्चिम को समान रूप से एकरूपता मे जोड़ने वाला कोई न कोई सेतु प्रवश्य रहा है। वेद, उपनिष प्रौर संहिताएँ यद्यपि उत्तरी-पश्चिमी प्रार्यों के प्रद्भुत सृजन थे, किन्तु उन्होंने सभी प्रदेशों के साहित्य को समान रूप से प्रनुप्राणित किया था ' एतिरेय ब्राह्मण प्रौ नागार्जुन ने उत्तर प्रौर दक्षिण को एक सूत्र मे बाँध दिया था। कबीर, नानक, दादू, शंकरदेव, नरसी मेहता, सरलदास तुकाराम, नामदेव, इकनाथ, सलकेजा, दौलतकाजी, प्रौर प्रलवल भिन्न-भिन्न प्रान्तों प्रौर भाषाओं के होते हुए भी उनके विचारों में प्राश्चर्य की सीमा तक साम्य रहा है। यही बात चण्डीदास, जयदेव प्रौर विद्यापति पर लागू होती है। दर्शन के क्षेत्र में रामानुजाचार्य शंकराचार्य, यमुनाचार्य, बल्लभा-चार्य प्रौर मध्वाचार्य से समूचे भारत का साहित्य, दर्शन प्रौर चिन्तन प्रभावित होता रहा है। प्रादि प्रौर मध्यकाल के भारतीय साहित्य को दृष्टिगत रखते हुए कहा जा सकता है कि इनमे भाषागत वैविध्य भले ही हो, किन्तु 'थीम' प्रौर चेतना की दृष्टि से कोई प्रन्तर नहीं है। विचाराभिव्यक्ति प्रौर संवेदनाओं के स्तर पर ही नहीं शब्दो प्रौर वाक्यों के प्रादान-प्रदान का एक लम्बा सिलसिला रहा है। नानक, दादू प्रौर कबीर तीनो की संवेदनाएँ प्रौर काव्यगत शब्दावली का साम्य या नामदेव प्रौर

तुकाराम की भाषा में पाये जाने वाले बोलचाल की हिन्दी के विभिन्न शब्द व रूप इस बात के द्योतक है कि समूचे भारत की धमनियों मे एक-सा रक्त प्रवाहित होता रहा है। आधुनिक चेतना से युक्त प्रारम्भिक काव्य में भी मानवाद और यथार्थवाद ऐसे केन्द्रीय बिन्दु हैं जो सामान्य तथ्य के रूप में हर भाग के साहित्य में पाये जाते रहे हैं। प्रयोगों की दृष्टि से अज्ञेय (हिन्दी), जीवानान्ददास, बुद्धदेव बसु (बंगला), मढेकर (मराठी) और गोपालकृष्ण अड़िग (कन्नड़) के किंचित साम्य का भी यही रहस्य है।

लेकिन इसके बावजूद प्रादेशिक काव्यों मे निजत्व भी रहा है। निजीपन यहाँ बाह्य आवरण है, यहाँ समान सूत्रबद्धता आन्तरिक प्रवाह है जो प्रादेशिकता की मेंड़ों को तोड़ता हुआ सर्वत्र नमी, हरियाली और स्निग्धता बनाये रखने में समर्थ रहा है। इस परिप्रेक्ष्य में जब भारतीय साठोत्तरी काव्य पर दृष्टिपात करता हूँ तो मुझे इसमें वही सनातन और परम्परागत एकरूपता और समरसता दिखाई पड़ती है जो पूर्ववर्ती साहित्य की 'विशिष्टता' बन कर रही है। काव्य की इस समता पर विचार करने से पूर्व सामयिक भारतीय परिवेश को मद्देनजर रखना होगा क्योंकि परिवेश-जन्य विसंगतियों ने ही इस समता और एक रूपता को जन्मा है।

भारतीय परिवेश—

साठोत्तरी कवि के लिए राजनीति जीवन्त सचाई रही है, लेकिन इस राजनीति ने उसे राहत देने की अपेक्षा आहत ही अधिक किया है। कांग्रेस ने अपने दीर्घ प्रशासन काल मे नारे ही नारे उछालें हैं। पचवर्षीय योजनाओं के प्रारूप और तत्सम्बन्धी लम्बे-चौड़े वायदों, वक्तव्यों का कुहासा शनैः शनैः हवा में घुलता चला गया। अमल करने या कराने मे जो भी कदम उठे, वे अननुभूत और भ्रष्ट प्रशासनीय तरीकों के कारण बेअसर रहे। जनता की हालत वैसी ही रही। पचवर्षीय योजनाओं में २१० अरब रुपये फूंकने के बावजूद भी गरीबी, बेकारी, मँहगाई, भुखमरी अकाल, बाढ़, समुदायिकता, जातिवाद, नेताई-कुर्सी-मोह और विदेशी भाषा व कर्जा न केवल बदस्तूर बने रहे अपितु रक्तबीज की तरह फलते-फूलते रहे। चीन-संघर्ष में पराभूत होने के बाद बुद्धिजीवियों को पहली बार महसूस हुआ कि हमारी विदेशी, रक्षा और गृह नीति कितनी असफल रही है। कच्छ और ताशकंद के समझौते हमारे खोखलेपन को और भी उजागर करते रहे। आम जनता के सामने कोई विकल्प नहीं था, वह अपनी नियति को अल्पमत वाले दलों, साम्प्रदायिक दलों और विदेशों से सीधे प्रेरणा लेने वाले दलों को समर्पित नहीं कर सकती थी। कांग्रेसेतर दल परम्परागत उपलब्धियों मे हिस्सा बँटाने को तत्पर थे, किन्तु परिवर्तन या क्रांति के हिमायती नहीं। राजनीति में गैर-कांग्रेसियों की गद्दी नशीनी का जो दौर आया, उसने सत्ता-

संघर्ष और दल-बदल नीति को अपनाकर देश और जनता की हानि की। कल के कांग्रेसी दल-बदल कर मुख्य मंत्री बने। कुर्सी से चिपके रहने के लिए मात्र टोपियाँ ही बदलीं। जिन से राज्यों में संविद घटकों ने समान कार्यक्रम के क्रियान्वय के लिए कदम उठाये, उनमें परस्पर संघर्ष होने से संगठन कायम नहीं रह सका। कुछ अपनी मौत मरे, कुछ केन्द्रीय सरकार (कांग्रेस) के इशारों पर गिराये गये। केरल, बंगाल और हरियाणा में यही हुआ।

लेकिन इस राजनैतिक अव्यवस्था और आया राम-गया राम की कुत्सित राजनीति ने दूसरे दौर में जनता को पूरी तरह झिझोड़ दिया। मँहगाई और गरीबी के पाटों में भारतीय जनता का अधिकांश भाग पिसता रहा। आम जनता की आय ८० पैसे प्रतिदिन से आगे नहीं बढ़ी। (स्व० राममनोहर लोहिया ने समद में इसे ३ आने बताया था। नेहरू ने प्रतिवाद करते हुए इसे १३ आने कहा)। ३५ करोड़ भारतीयों को दिन भर में २५० ग्राम से अधिक अन्न खाने के लिये नहीं मिलता है। मँहगाई का यह आलम है कि सुबह और शाम की कीमतों में गजब का अन्तर देखा जाता है। हर रोज बढ़ती कीमतों से निम्न एवं मध्य वर्ग पिसता चला जा रहा है। इधर कर्मचारियों का मँहगाई भत्ता और बोनस बढ़ता है, उधर भुगतान होने पर मालूम पड़ता है कि बढ़े हुए भत्ते और बोनस को तो मँहगाई कभी की लील गई। मँहगाई के इस बढ़ते हुए आलम का नतीजा है कि नई कांग्रेस के साथ गठबन्धन में जुड़ा हुआ एक घटक इसी को आन्दोलन छेड़े हुए है। एक समय खाद्य मंत्री किदवई ने अपनी सूझ-बूझ से भावों पर अपूर्व नियंत्रण किया था—उसके बाद सन् १९५७-५८ के आस-पास हवा में कुछ नमी आई थी। भारतीय गाँवों में कच्चे झोंपड़े और मिट्टी-गारे के घरों के स्थान पर पत्थर और चूने के मकान बनने लगे थे। आम लोगों की राय थी कि किसान खुशहाल होता जा रहा है। पर यह स्थिति अधिक दिनों तक नहीं रही। बिहार, राजस्थान, उड़ीसा, पूर्वी उत्तर प्रदेश के इलाकों में अनावृष्टि से जो फसलों का विनाश प्रारम्भ हुआ, उससे किसानों को हल, मजदूरी और बीज का लौटना भी नसीब न हुआ। अकाल की भीषण छाया गहराती रही। बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश की सूखी छाती दरक गई। सन् १९६५-६६, १९६६-६७, १९६८-६९ और १९७०-७१, १९७१-७२ में बिहार, उड़ीसा, पूर्वी उत्तर प्रदेश और राजस्थान की जनता उस नियति को झेलती रही जिसे कांग्रेस ने अपने निर्वाचन के बदले उपहार में दिया था। बाढ़, अकाल और सूखा हर आये साल तबाही करते रहे।

यों भारत का प्रत्येक चेतनशील व्यक्ति वर्तमान पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था के दौर में समाजवादी कदमों का स्वागत ही करेगा, क्योंकि वे उनके हृदय की आकांक्षाओं के प्रतिरूप हैं। पर नारे उछालना और है उनको समर्पित होकर घटित करना

दीगर बात है। 'सहकारिता' से लेकर 'गरीबी हटाम्रो' तक के नारों का खोखलापन उजागर हो चुका है। सरकार हर उद्योग का राष्ट्रीयकरण कर उसे अपनी झोली में डालने को आतुर है किन्तु लाल फीताशाही, साम्प्रदायिकता, भ्रष्टाचार और जातिवाद जैसे तमस-जीवी प्लेग के कीटाणुओं को नष्ट करने के लिए आतुर नहीं है। गांधीजी की ऐन नाक के नीचे घूंस ली जा रही है। सरकार का हर दफ्तर, महकमा, कचहरी आदि भ्रष्टाचार का अड्डा बना हुआ है। सरकारी क्षेत्र मे रुपये में से चालीस पैसे का भी माकूल काम नहीं हो रहा है। अरबों के बाँध, परियोजनाएं, कारखाने, इमारतें आधी से कम लागत में खड़े किये जा रहे हैं। भाखड़ा में दरारें पड़ती हैं। 'गुलाबी-चना' (मध्य प्रदेश), शीरा का घोटाला (उत्तर प्रदेश), सादड़ी काण्ड (राजस्थान) तथा बिहार और केन्द्रीय मन्त्रियों के खिलाफ जाँच रिपोर्टें तो उस के कुछ नमूने-भर के रूप में सामने आती हैं, बाकी लाखों वाकया 'रूटीन' बन चुके हैं।

बिहार, अहमदाबाद, अलीगढ़ और फिरोजाबाद में साम्प्रदायिक अग्नि को भड़के हुए अधिक समय नहीं हुआ है। इधर नेता साम्प्रदायिक झगड़ों की शान्ति की अपील करते हैं उधर नगर के कोनों से साम्प्रदायिक उपद्रव भड़क उठते हैं। फिर नई कांग्रेस की कथनी और करनी में बड़ा विरोधाभास है। जहाँ एक ओर वह साम्प्रदायिकता के आधार पर जनसंघ का विरोध करती है, वहाँ दूसरी ओर उसी आधार की उपेक्षा करके केरल में मुस्लिम लीग से गठबन्धन करती है। बहरहाल, सरकार जब तक मूलभूत बातों का सामना नहीं करती, तब तक समाजवाद की परिकल्पना महज जुबानी और कागजी बनी रहेगी।

जो सरकार सर्वहारा वर्ग के लिए खाने भर को अन्न, तन ढँकने को कपड़ा, पीने भर को पानी, रहने को अपना मकान, और अभिव्यक्ति के लिए अपनी भाषा मयस्सर नहीं कर सकती, उसे इतने लम्बे समय तक जनता क्यों कर झेल पाई, यही आश्चर्य है। अजीब विसंगति है कि एक ओर झुग्गी, झोंपड़े और फुटपाथों का जीवन है, दूसरी ओर फिज, कूलर और एलिवेटरों से मण्डित आलीशान इमारतें खड़ी हो रही हैं। मन्त्रियों का हुजूम, उनकी सहूलियतें, वातानुकूलित कारें, संसद और विधान सभाओं के सदस्यों के भत्ते निरन्तर बढ़ रहे हैं। इसका परिणाम यह है कि राजनैतिक कारणों से अवसरवादिता और यथास्थितिवाद सदैव बदस्तूर बने रहे हैं। विरोध कभी प्रबल नहीं रहा। दल के बहुमत ने न केवल स्वस्थ बहसों का गला घोंटा परिन्तु भारतीय मानस की नियति को बदलने में सदैव बाधा पहुँचाई है। इधर बुद्धिजीवी, जिससे संकट में नेतृत्व की आशा की जा सकती है, उसने कभी भी राजनैतिक साधनों से सत्ता हस्तगत करने के लिए अपनी शक्ति को संगठित नहीं किया।

बाह्य प्रभाव—

पाश्चात्य देशों में मूल्यों का विघटन प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् महसूस किया गया। जैसे-जैसे मूल्य निर्धारित होते गये, वैसे-वैसे अनास्था, कुंठा वेदना निराशा, मृत्यु-बोध संत्रास और असंतोष के स्वर उभरते रहे। इसलिए जेम्स, ज्वायस, येटस स्टीफन ज्विगं, सार्त्र, कामू, काफ्का, हेड्गिर, मार्स्पर्स, ज्यांजेनें, जान केरुवाक, कोर्सो और विलियम बरोज उसी 'एंग्जाइटी' के परिवेश को चित्रित करते रहे जो तात्त्विक निस्सारता से जर्जर, खोखला और बेनकाब हो चुका था। आज के यांत्रिक परिवेश और यांत्रिक सभ्यता में आदमी का दम घुट रहा है, तभी अमेरिका में नकली मुखौटाधारियों, धूर्तों, दोगलों, रंग भेदियों, वियतनामियों के नृशंस हत्यारों के विरुद्ध बीटनिकों और हिप्पियों ने तिजारत की सभ्यता, रिक्तता और विसंगतियों के विरुद्ध इंग्लैंड की क्रुद्ध पीढ़ी, बंगाल की भूखी-पीढ़ी, जापान की सन-ट्राइबर्स पीढ़ी और बर्बर हेपनिंग पीढ़ी ने विद्रोह का बाना धारण किया था।

परिवेश के फैलने के साथ साथ उसका लिजलिजापन भी बढ़ता चला जा रहा है। कीर्कगार्द, दोस्तो-ए-वस्की, नीत्शे और काफ्का का 'निहिलिस्टिक' दृष्टिकोण आज का कटु यथार्थ और सार्वभौम दुर्गति का परिचायक बन गया है। मुख्य बात यह है कि मनुष्य ने न केवल अपना केन्द्र खो दिया है, अपितु उसका अपनापा भी उससे बिछुड़ गया है। उसे यह प्रतीति ही नहीं होती है कि कौन सितारे उसके जीवन को चलाते हैं। वह चेहरा हीन होकर असलियत को खो चुका है।

ईश्वर, प्रेम और मृत्यु जो कभी साहित्य को अपनी ओर खींचते थे, अपना स्वत्व खो चुके हैं। न्यूटन क ऊर्जा सम्बन्धी सिद्धान्त से ईश्वर की कुर्सी हिल गई थी। नीत्शे ने उसे मृत घोषित कर दिया था। स्थानापन्न मनुष्य भी सृष्टि का निया- मक और केन्द्र न रहा। कॅम्स ने उसे भी मृत घोषित कर दिया, तभी कीर्कगार्द ने कह दिया 'मृत्यु मनुष्य के लिए अर्थ शून्य है क्योंकि समस्त सृष्टि में मनुष्य के लिए कोई स्थान नहीं रहा'। इन समस्त तत्वों ने मनुष्य को अपने अस्तित्व के प्रति शंकालु बना दिया है। जिन्दगी की तात्त्विक-व्यर्थता और विज्ञान के नये करिश्मों से जो 'एंग्जाइटी' का संसार निर्मित हुआ है, उसमें आदमी छटपटा रहा है। यह छटपटाहट आर्वेल के १९४८ में और कोबो एबे के 'वीमेन इन ड्यून्स' में है। वीमेन इन ड्यून्स का वैज्ञानिक जो चाहता है, कर नहीं पाता। रेत के ढूह में फंसा अपने अस्तित्व के लिए कुनमुनाता है, शनैः शनैः व्यवस्था का अंग बनता चला जाता है। अस्तित्ववाद की मूल समस्या यह नहीं कि अजनबी, बेहूदी और यन्त्रणामयी दुनिया को कैसे बदला ..., बल्कि इनके बीच में यह अनुभव करना है-मैं हूं। आज संक्रांति की सीमा पर खड़ा मानव अपने अस्तित्व को खोजने में थका हुआ, भयग्रस्त, और अजनबी है।

इस संकाकुल स्थिति में आदमी के पास और कोई चारा नहीं सिवाय इसके कि वह सामाजिक, राजनैतिक और व्यापक परिवेश से विद्रोह करे।

अमेरिका की बीट पीढ़ी का विद्रोह 'वरण स्वातन्त्र्य' की ओर उन्मुख तो है, किन्तु उसमें प्रगाढ़ जीवन की लालसा और किसी 'ओर' जाने का प्रयास नहीं है। अमेरिका जैसे विकसित देशों की सभ्यता और संस्कृति भौतिकता के चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुकी है। इस अमानवीय यांत्रिकता से छुटकारा पाने के लिए नई पीढ़ी कसमसा रही है। यही कारण है कि अमेरिका की बीट पीढ़ी और इंगलैंड की क्रुद्ध पीढ़ी पूंजीवादी व्यवस्था को जड़े खोदने में तत्पर हो गई हैं। यह पीढ़ी समाज-व्यवस्था से इस कदर नाराज है कि स्वीकृत नियमों और कानूनों को उन्होंने अस्वीकार कर दिया है।

हिप्पियों के आत्मदर्शन में पलायनवादी स्वर है। मारिजुआना और एल० एस० डी० के प्रयोग से वे इस दृश्य जगत से अलौकिक जगत की रंगीनी में खो जाना चाहते हैं। मैक्सिको के छात्र-विद्रोह, फ्रांस में डिगाल के विरुद्ध छात्र-विद्रोह, इंडोनेशिया में सुकर्ण के विरुद्ध छात्र-विद्रोह में वस्तुतः परिवेश की विसंगतियों का एक-सा ही हाथ था। यह मध्य वर्ग के नैराश्य और आक्रोश को अभिव्यक्ति करता है। मे जानते हैं कि संसार मे जितनी भी क्रान्तियां हुई हैं, उन्होंने अन्ततः राजनैतिक रूप ारण कर लिया है। ये क्रान्तियां मानव-नियति को पूरी तरह बाधने और उसे ाहत देने में असफल रही हैं। इसलिए समाज व्यवस्था को बदलने के लिए विद्रोह ावश्यक है और यही समूचे व्यक्तित्व को छू सकता है।

पश्चिम के लेखकों का विद्रोह 'वास्टर्ड' संस्कृति के खिलाफ है। पूंजीवादी शो के लोग कसमसा रहे हैं। तो साम्यवादी देशों में डुब्चेक और एवतुशेंको जैसे तेगों की कतार बनती जा रही है। दोनों ओर चिनगारी है किन्तु बीट और हिप्पियों का विद्रोह सत्ताधारियों के लिए तमाशा बना हुआ है। ये खुद बीमार साबित हो रहे हैं। इनका मूफियाना लहजा उतना नहीं चौंकाता जितना हेपनिंग वालों के हिंसा, बीभत्स और रौद्र रूप। यह समस्त विद्रोह दिशाहारा रहा है।

भारतीय विद्रोही कविता और विदेशी मुखौटे—

साठोत्तरी परिवेश विद्रोह के लिए उर्वर भूमि बना हुआ था किन्तु उससे जिस प्रकार का विद्रोह पनपना चाहिये था, वह न पनप कर अन्य प्रकार के बीज अङ्कुरित हुए—उनमें से एक था बीट-पीढ़ी का प्रभाव। कहा जाता है कि बीट और भूखी पीढ़ियां एकसे परिवेश से अभिशप्त और संतप्त थी, किन्तु ऐसा कहना सत्य को नकारना है। बीट पीढ़ी के प्रभाव को भूखी पीढ़ी ने उतावली में और बिना अपने संस्कार और परिवेश को बूझे, ग्रहण किया था। सन् १९६१ में बीट कवि गिन्सबर्ग

का कलकत्ते में आगमन हुआ, उसी से प्रभावित होकर सन् १९६२ में रातोंरात बंगला साहित्य में दो दरारें पड़ गई। जिस प्रकार बीट पीढ़ी ने परम्परा का विरोध करके परम्परागत साहित्यकारों को बूढ़ा, थका, बनावटी, पूँजीपति, व्यवस्थाप्रिय और स्वयं को अत्याधुनिक घोषित किया, उसी तरह भूखी पीढ़ी ने परम्परागत पीढ़ी को नपुंसक, दकियानूसी, अनाधुनिक, व्यवसायी और व्यवस्था–प्रिय घोषित किया और अपने को समकालीन, आधुनिक, अवागार्द बताया। बीटनिकों की तरह इन्होंने भी सड़े-गले, खोखले और बेहूदे सामाजिक, आर्थिक और नैतिक मूल्यों का बहिष्कार किया और इस सामाजिक व्यवस्था के प्रति वैसा ही आक्रोश व्यक्त किया, जैसा गिन्सबर्ग ने अपनी 'हाउल' कविता में या केरूवाक ने अपने गद्य में किया। वैसे भी वैज्ञानिक और यान्त्रिक प्रगति ने बहुत-सी जर्जर मान्यताओं, परम्परागत विश्वासों, सामाजिक धार्मिक रूढ़ियों और नैतिक वर्जनाओं को अस्वीकार कर दिया।

जिस प्रकार बीट कवियों ने अमेरिका की सभ्यता के नकली मुखौटे को उतारने के लिए 'नेकडनेस' का अर्थ समझाना पड़ा, वैसे ही भूखी पीढ़ी ने मनुष्य की अनुभूतियों को हिला देने के लिए 'शॉक-ट्रीटमेंट' का सहारा लिया। भूखी पीढ़ी ने वस्तुओं को सही रूप में देखने, पहचानने, भोगने तथा अभिव्यक्त करने में जिस साफ़गोई का सहारा लिया, उससे सभ्यता और संस्कृति के ठेकेदार चौंक पड़े। भूखी पीढ़ी की इस साहसिकता को तेलुगू के कवि भी महसूस कर रहे थे:—

गिंसबर्ग, गेनेकड़
अवांगार्द जैसे दूसरे विद्रोही
जो हंगरी में घायल हो गये हैं
जो बंगाल में क्षुधा-पीड़ित हैं
ब्रिटेन की क्रुद्ध पीढ़ी
वे सभी सभ्यता के पर्दों को झटके से उखाड़ रहे हैं, भूख से इनका खून उबल रहा है, उत्तेजना और प्रतिहिंसा जिन्हें चेतन बनाये हुए हैं वे क्षत-विक्षत मृत शरीरों को आक्सीजन दे रहे हैं। मानवता के लिए रो रहे हैं, जब युवा निर्बाध यौन सम्पर्कों में उलझ जाते हैं तब मृदुता, भौचक्की और झकझोरती-सी देखती रह जाती है।

(जयसूर्य, नग्न चित्र)

भूखी पीढ़ी का मलय भी कहता है कि भारत के नाम पर मैंने ऑक्सीजन को है। इस पीढ़ी के आदर्श गिंसबर्ग और अवांगार्द हैं। इन्होंने सामाजिक रूढ़ियों, ...ों को तोड़ने का संकल्प लिया हुआ था। एक हिन्दू कवि का यह था—

एक साहित्य-नग्न विराट
स्वच्छ पत्र प्रकट हो गया

जिसके दर्शन के लिए
तपने दो अपना दिल
बहने दो नया खून
भर दो मस्तिष्क में फौलाद
तोड़ दो सारी दीवारों को
छूत की बीमारी-जैसी अजगर-जैसी
पुरानी परिपाटी को
भस्म कर दो।

जब मूल्य रूढ़ियाँ बनने की प्रक्रिया में अपनी रौनक खो बैठते हैं, तब नई
ी उन्हें तोड़ने के लिए सन्नद्ध हो उठती है। तेलुगू के दिक्-कवियों (निखिलेश्वर,
ैया, नग्न मुनि, ज्वालामुखी, चेरबण्डराजु, और महास्वरू) में समाज परिवर्तन
जो आकांक्षा थी उसे वे मानवता समन्वित निर्बाध समाज के रूप मे देखना चाहते
। यही कारण है कि उनका हृदय वियतनाम-युद्ध, हिंसा, अमानवीय अत्याचार
र विध्वंसों के सर्वथा विरुद्ध है—

वियतनाम के नागरिकों की जिंदगी
कीचड़ मे फँसी मनुष्य की इच्छा
+ + +
दो सिद्धान्तों के मानव भक्षों के मुख में
तिलमिलाती शान्ति
पशु का वारिस होकर विश्व नागरिक की अधोगति।

(निखिलेश्वर)

भूखी पीढ़ी के एक कवि ने भी 'आमार वियतनाम' नाम की तेज-तर्रार
ता लिखी। लेकिन भूखी पीढ़ी के अधिकाश स्वरों में निरी आक्रामकता और
रक आक्रोश मात्र रहा है—

'प्रति हिंसा मुझे पागल बना रही है
अपने साथ सलाह-मशिवरा करके बदला लेने की सोच रहा हूं
एक-एक चोट पर टूट-टूट कर चूर-चूर होना चाह रहा हूं
मेरे कंकाल का समझदार हर द्वार
धक्का खाकर गिर जाने के बाद खड़ा होकर
मैं फुंफकार रहा हूं, गरज रहा हूं। (मलयराय चौधरी)

भूखी पीढ़ी जैसी शाब्दिक आक्रामकता हिन्दी के कुछ कवियों में भी बदस्तूर
पायी जाती है:—

का कलकत्ते में आगमन हुआ, उसी से प्रभावित होकर सन् १९६२ में रवीन्द्रोत्तर बंगला साहित्य में दो दरारें पड़ गईं। जिस प्रकार बीट पीढ़ी ने परम्परा का विरोध करके परम्परागत साहित्यकारों को बूढ़ा, थका, बनावटी, पूँजीपति, व्यवस्थाप्रिय और स्वयं को अत्याधुनिक घोषित किया, उसी तरह भूखी पीढ़ी ने परम्परागत पीढ़ी को नपुंसक, दकियानूसी, अनाधुनिक, व्यवसायी और व्यवस्था-प्रिय घोषित किया और अपने को समकालीन, आधुनिक, अवांगार्द बताया। बीटनिकों की तरह इन्होंने भी सड़े-गले, खोखले और बेहूदे सामाजिक, धार्मिक और नैतिक मूल्यों का बहिष्कार किया और इस सामाजिक व्यवस्था के प्रति वैसा ही आक्रोश व्यक्त किया, जैसा गिंसबर्ग ने अपनी 'हाउल' कविता में या केरुआक ने अपने गद्य में किया। वैसे भी वैज्ञानिक और यांत्रिक प्रगति ने बहुत-सी जर्जर मान्यताओं, परम्परागत विश्वासों, सामाजिक धार्मिक रूढ़ियों और नैतिक वर्जनाओं को अस्वीकार कर दिया।

जिस प्रकार बीट कवियों ने अमेरिका की सभ्यता के नकली मुखौटे को उतारने के लिए 'नेकेडनेस' का अर्थ समझाना पड़ा, वैसे ही भूखी पीढ़ी ने मनुष्य की अनुभूतियों को हिला देने के लिए 'शॉक-ट्रीटमेंट' का सहारा लिया। भूखी पीढ़ी ने वस्तुओं को सही रूप में देखने, पहचानने, भोगने तथा अभिव्यक्त करने में जिस साफ़गोई का सहारा लिया, उससे सभ्यता और संस्कृति के ठेकेदार चौंक पड़े। भूखी पीढ़ी की इस साहसिकता को तेलुगू के कवि भी महसूस कर रहे थे:—

गिंसबर्ग, गेनेकड़
अवांगार्द जैसे दूसरे विद्रोही
जो हंगरी में घायल हो गये हैं
जो बंगाल में क्षुधा-पीड़ित हैं
ब्रिटेन की क्रुद्ध पीढ़ी

ये सभी सभ्यता के पर्दों को झटके से उखाड़ रहे हैं, भूख से इनका खून उबल रहा है, उत्तेजना और प्रतिहिंसा जिन्हें चेतन बनाये हुए हैं वे क्षत-विक्षत मृत शरीरों को आक्सीजन दे रहे हैं। मानवता के लिए रो रहे हैं, जब युवा निर्बाध यौन सम्पर्कों में उलझ जाते हैं तब शुद्धता, भौचक्की और झकझोरती-सी देखती रह जाती है।

(जयसूर्य, नग्न चित्र)

भूखी पीढ़ी का मलय भी कहता है कि भारत के नाम पर मैंने ऑक्सीजन को जाना है। इस पीढ़ी के आदर्श गिंसबर्ग और अवांगार्द हैं। इन्होंने सामाजिक रूढ़ियों, गलित परम्पराओं को तोड़ने का संकल्प लिया हुआ था। एक दिग् कवि का इस संदर्भ में कहना था—

एक साहित्य-नग्न विराट

जिसके दर्शन के लिए
तपने दो अपना दिल
बहने दो नया खून
भर दो मस्तिष्क में फौलाद
तोड़ दो सारी दीवारों को
छूत की बीमारी-जैसी अजगर-जैसी
पुरानी परिपाटी को
भस्म कर दो।

जब मूल्य रूढ़ियाँ बनने की प्रक्रिया में अपनी रौनक खो बैठते हैं, तब नई ढ़ी उन्हें तोड़ने के लिए सन्नद्ध हो उठती है। तेलुगू के दिक्-कवियों (निखिलेश्वर, रवैया, नग्न मुनि, ज्वालामुखी, चेरबण्डराजु, और महास्वप्न) में समाज परिवर्तन ी जो आकांक्षा थी उसे वे मानवता समन्वित निर्बाध समाज के रूप में देखना चाहते । यही कारण है कि उनका हृदय वियतनाम-युद्ध, हिंसा, अमानवीय अत्याचार र विध्वंसों के सर्वथा विरुद्ध है--

वियतनाम के नागरिकों की जिंदगी
कीचड़ मे फँसी मनुष्य की इच्छा
+ + +
दो सिद्धान्तों के मानव भक्षों के मुख में
तिलमिलाती शान्ति
पशु का वारिस होकर विश्व नागरिक की अधोगति।
(निखिलेश्वर)

भूखी पीढ़ी के एक कवि ने भी 'आमार वियतनाम' नाम की तेज-तर्रार विता लिखी। लेकिन भूखी पीढ़ी के अधिकांश स्वरों में निरी आक्रामकता और ब्दिक आक्रोश मात्र रहा है—

'प्रति हिंसा मुझे पागल बना रही है
अपने साथ सलाह-मशविरा करके बदला लेने की सोच रहा हूं
एक-एक चोट पर टूट-टूट कर चूर-चूर होना चाह रहा हूं
मेरे ककाल का समझदार हर द्वार
धक्का खाकर गिर जाने के बाद खड़ा होकर
मैं फुंफकार रहा हूं, गरज रहा हूं। (मलयराय चौधरी)

भूखी पीढ़ी जैसी शाब्दिक आक्रामकता हिन्दी के कुछ कवियों में भी बदस्तूर पायी जाती है:—

इससे पहले कि पागल हो जाऊं
चढ़ बैठूं गरदन पर
हाथ में जहर-बुझा कोड़ा लिये हुए
सड़ासड़ मारता चला जाऊं
रुकूं नहीं नहीं नहीं
या दबा दूं जलती रेत में
ये अपनी आंखें, नाक, कान, जिव्हा, कूद जाऊं ताजे
चूने के हौज में
या कि फिर क्या करूं ? (कैलाश वाजपेयी)

इन कवियों में चर्चित होने, चौंकाने और जमने की लालसा अधिक रही। यही कारण है कि सितम्बर, ६४ में भूखी पीढ़ी के पांच कवियों को अश्लीलता के आरोप मे गिरफ्तार कर लिया गया तो यह आन्दोलन सदैव को ठप्प पड़ गया। इनका विद्रोह इतना सतही और निष्प्रभ रहा कि जमे हुए ठोस साहित्यकारों से इन्हें कोई प्रोत्साहन या समर्थन नहीं मिला, जबकि बीट पीढ़ी को रोजनथाल जैसे आलोचक तथा अनेक अग्रज कवियों की सहानुभूति और टेक मिली। फलतः यह आन्दोलन बिखर गया। जहां कहीं इनका आक्रामक स्वर विशुद्ध व्यंग्यपरक हुआ, वहां अवश्य मारक बन गया है:—

मैंने सपने में
मोरारजी भाई को
कुछ सोचते देखा
माथा ठनका
हे भगवान.........कहीं सपनों पर टैक्स न लग जाये।
(समीरराय चौधरी-बंगला)

इस प्रकार की व्यंग्यपरकता हिन्दी के नये कवियों में भी है उसके व्यंग्य में खुला पन है जो निशाने पर मारक प्रहार करता है—

अकाल पीड़ित
नक्शे की व्यवस्था करता। मंत्री खिलखिलाता कर बढ़ाता
भत्ते बनाता
पूंछ हिलाता
मर रहा
मतदान की पेटी के पास। (त्रिनेत्र

स्तित्ववादी विद्रोह—

भूखी पीढ़ी (मलयराय चौधरी, सुविमल बसाक, समीर राय, देवी राय, ोप चौधरी, सुभाष घोष, शैलेश्वर घोष आदि) का विद्रोह अस्तित्ववाद से अनुप्रेरित । अस्तित्ववादियों के अनुसार आज का जीवन विसंगतियों से भरा हुआ है। ये संगतियां काफ्का के 'द ट्रायल' व 'द कासल' जैसे उपन्यासों और कामू की 'द ट' जैसी कहानियों में वर्णित विसंगतियों से भी भयंकर है। इन्हीं के बीच भटकते 'फाउस्ट' और 'केरमाजोव' के हाथों में बालू ही नजर आई। ऐसी स्थिति में केगार्द दो राह सुझाता है—एक, विसंगतियों के बीच आस्थापरक हो जाना, रा, विसंगतियों से ऊबकर आत्महत्या कर लेना। आस्थापरक हो जाना, तटस्थ र सब कुछ सहना जैसा ही है। आत्महत्या कर लेना निरा पागलपन और पलायन : अतः विसंगतियों और 'बाउन्डरी सिचुएशन' की स्थिति में कामू तीसरा रास्ता ाता है-वह है विद्रोह का। यह विद्रोह चाहे सिसीफस' की चिरन्तन कर्म करने नियति का हो, चाहे 'द रिबेल' में चित्रित जैसा। कामू क्रान्ति और विद्रोह मे तर करता है। क्रान्ति को चरम मूल्यों पर आधारित बनाया है। विसंगति यह है सारे मूल्य मिथ्या हैं। फलतः आज की परिस्थिति में विद्रोह ही अधिक सार्थक र सत्य के निकट है। विद्रोह का साकार रूप 'वरण स्वातन्त्र्य' है। उसके साथ ाद जीवन की लालसा सन्निहित हो तो वह विद्रोह के शंखनाद में गूंज पैदा कर ती है।

भूखी पीढ़ी ने जो राजनैतिक इश्तहार निकाला था, उसमें अस्तित्व को प्राक्-नैतिक माना है। इस पीढ़ी के कवियों का कथन था कि—'हम प्रतीक्षित हैं—'नथिगनेस के लिए'। समग्र अस्तित्व की एक अजीब क्षुधा मनुष्य को दिन पर दिन मृत्यु के क्षण तक जीवित रखती है। इन परिस्थितियों में हम सब क्षुधार्त हैं। इनकी कविता में 'मैं' ही सब कुछ है। कविता का लक्ष्य 'मुझको' सम्पूर्ण रूप से खोजना है। अस्तित्ववादियों का प्रभाव केवल सतही तौर पर पड़ा है। कहीं यह प्रभाव शब्द एव प्रतीक के ग्रहण करने तक है—

> घुट रही है मेरी दम तोड़ती सांस मुझे उबकाई आ रही है।
> (जगदीश चतुर्वेदी, हिन्दी)

सार्त्र के 'नौसिया' का नायक रेकान्तॅ भी बार-बार उबकाई लेता रहता है। कहीं यह निरी शाब्दिक आक्रमकता के रूप में व्यक्त हुआ है—

> आजकल मैं शरीर के भीतर हो थूक रहा हूं
> शीशे के वचक पारे मे ? मैं अपने हिंस्र चेहरे के आत्मत्राण-
> कारी धब्बे उधेड़ रहा हूं। (मलयराय चौधरी, बंगला)

या मीरजे की तरह वह कह उठता है—

> धर्म को बात छोड़ो
> तुम्हारा ईश्वर जड़ हो चुका है
> तुम्हारा स्वर्ग बंजर हो चुका है
> मुझे गुजरे कल का स्वर्ग नहीं चाहिए
> मैं प्राजका क्षण भोगना चाहता हूं। (हरभजन सिंह, पंजाबी)

इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तित्ववादी-विद्रोह-मूलक धारणा का भारतीय काव्य में सतही प्रनुगमन हुआ है।

मार्क्सवादी प्रनुचेतना और विद्रोह—

भारत में जिस कदर बेरोजगारी, मँहगाई, और भ्रष्टाचार परिव्याप्त है उसमें सामूहिक-जन-विद्रोह या सामाजिक क्रान्ति की अधिक आवश्यकता थी जो सदा के लिए हर शोषण का अंत कर देती और जिसका प्रमुख कार्य होना नये अर्थ तंत्र का सृजन करना और सर्वहारा द्वारा राजनीतिक सत्ता का अधिग्रहण। लेकिन हुआ उल्टा, गुस्सा जो क्रियाशील होना चाहिए था वह अपने तक सीमित रहा। यह प्रगतिशील या समाजवादी गुस्सा न होकर समझौतापरक गुस्सा था जो चोट खाने और प्रहार करने दोनों से हिचकिचा रहा था। यह आवेश बचकाना था, वह किसी दर्शन, मान्यता या चिन्तन से परिपुष्ट न था। विद्रोहियों का यह समूह सामाजिक, नैतिक मर्यादाओं को खण्डित कर केवल आभिजात्य या बुर्जुआ वर्ग को चिढ़ाना या नाराज करना चाहता है या उनकी गैर-जिम्मेदार, बहशियाना और कापालिक हरकतों से बुर्जुआ वर्ग को चिढ़ाया तो अवश्य किन्तु इन लोगों का न कोई निश्चित लक्ष्य था, न क्रान्ति की चेतना। इनके लिए सर्वहारा वर्ग बुर्जुआ वर्ग से भी अधिक हेय रहा है—अपढ़, गँवार, असभ्य। फलतः इन्होंने सर्वहारा के हितों की ओर कभी ध्यान नहीं दिया। इन्होंने एक ओर परिवेश को उबाऊ, विसंगतिपूर्ण और असह्य माना दूसरी ओर पूँजीवादी समाज के उपभोक्ता-समाज की विसंगतियों को नियति मानकर यथास्थितिवाद से समझौता कर लिया। वे उन हर खतरनाक हरकतों से दूर रहना चाहते हैं, जिनसे आक्का और सरकार का नाराज होना सम्भावित हो या जिनसे उनकी सुरक्षा खतरे में पड़ सकती हो। स्थापित होने, सौदेबाजी करने तथा आत्मविज्ञापन आदि से प्रेरित उनका विद्रोह पूरी तरह नपुंसक था। यद्यपि इस विद्रोह को वामपंथी रूप देने की चेष्टा अवश्य की गई थी। केशनी प्रसाद चौरसिया नामक कवि ने 'विद्रोही पीढ़ी' के अंक में कहा था—'हमारा एक ओर शत्रु साम्राज्यवाद है तो दूसरी ओर पूंजीवाद भी।'

क्रांति जैसा नारा दिक पीढ़ी ने भी लगाया था—'अब समय आ गया है कि

हम इस कृत्रिम ढांचे को उखाड़कर फेंक दें। यदि व्यवस्था हिंसा और रक्तपात चाहती है तो रक्त भी देना पड़ेगा। इसी रक्तपात में प्रेम और सहज मानव का प्रादुर्भाव होगा।

लेकिन संकल्प रहित ये नारे लिलीपुटियन बर्छे साबित हुए।

यौन-विद्रोह—

विद्रोह, निरा रोमानी और शारीरिक भी हो सकता है, इसको साठोत्तरी कविता से अच्छी तरह परखा जा सकता है। पाश्चात्य साहित्य में यौन प्रसंगों की भरमार डी० एच० लारेंस, जेम्स ज्वायस जैसे लेखकों के समय से प्रारम्भ हो गई थी, किन्तु बीट कवियों ने उसे और नीचे उतार कर वेश्यालयों तक पहुंचा दिया। गिंसबर्ग, कैरुवाक, कोर्सो, फर्लेंबिस्की, विलियम बरोज की रचनाओं में यौन सम्बन्धों, योनियों, स्तनों, संभोग के सम्भव और असम्भव रूपों और आक्रामक बिम्बों की बहुतायत है। आणविक युग की विभिषिका से भविष्य और मृत्यु सदेहास्पद हो उठे हैं। आज के मारक अस्त्र शस्त्रों से सत्रस्त व्यक्ति जीवन और जगत की क्षुद्र वासनाओं में लिप्त हो रहा है। यही कारण है कि बीट और हिप्पी पीढ़ी में यौनाकर्षण, भोगवाद, कामुक व्यवहार, आत्म-रति, सम-लैंगिकता और परभोग-सुख की मात्रा निरन्तर बढ़ती गई है। जापान में हैपनिंग पीढ़ी के एक सदस्य माड्चि ने एक फिल्म बनाई है—'नो सेक्स' और उसमें सेक्स के अलावा कुछ नहीं है। इसी तरह हैपनिंग पीढ़ी के एक समारोह में शिशु-जन्म की समस्त प्रक्रियाओं से सम्बन्धित एक वीभत्स और कुत्सित फिल्म दिखाई गई। इस तरह कला और साहित्य में यौनाकर्षण नयी बर्बरता को जन्म दे रहे हैं। वह सौंदय, सुख, सहज-प्रवृत्ति और नैतिकता का उत्स न होकर घातक और विद्रोह की अभिव्यक्ति का माध्यम तथा घिनौनी बर्बर हिंसा का हेतु भी बना हुआ है। यही कारण है कि साठोत्तरी कविता के एक वर्ग का यह विद्रोह नारी के पाशविक उपभोग तक सीमित रह गया है। सामन्ती समाज में नारी दासी होते हुए भी मानवीय थी, लेकिन पूंजीवादी समाज में वह उपभोग या विलास की एक जिन्स मात्र बन कर रह जाती है, इसलिए यह विद्रोह नारी संभोग के संभाव्य और असंभाव्य तरीकों से कुढ़ता और अभद्रता की सीमा तक पहुँच गया है। इस दशक के भारतीय कवियों के लिए नारी केवल योनि मात्र रह गई है—

> नारी के पास सोकर व्यर्थता की बातें सोचना ही जीवन है।
> \+ \+ \+
> योनि का दूसरा नाम ही जीवन है।
>
> (शैलेश्वर घोष, बंगला)

हिन्दी मे वेश्या के उपमान के रूप में खुला भौर बहुतायत से प्रयोग हुआः—

> बाकी शहरों में वैश्याओं ने पीला मटमैला अन्धकार फैला रखा है। (राजकमल चौधरी, हिन्दी)
>
> क्या सारी व्यवस्था खुर्राट वेश्या के
> सिफलिस सड़े अंग विशेष सी नुची-चिथी वजबजा नहीं चुकी। (केशनी प्रसाद चौरसिया, हिन्दी)
>
> क्या बागडोर दे दूँ वेश्याओं के हाथ में।
> (श्रीकान्त वर्मा, हिन्दी)

इस समय की कविताओं में जंघाओं, स्तनों, योनियों, लिंगों भौर संभोग के सम्भव-असम्भव रूपों भौर *आक्रामक-यौन-बिम्बों की बाढ़ आने से ऐसा लगता था* कि कवियों का सारा विद्रोह नारी शरीर के इर्द-गिर्द ही सिमट कर रह गया है। कन्नड के लंकेश, कन्नयूया भौर चन्द्रशेखर पाटिल ने अधिगोतर नये काव्य में अमूर्त आध्यात्मिकता के विरुद्ध तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए यौन-चित्रणों की भरमार कर दी थी। ये कवि भी व्यवस्था विरोधी थे भौर यौनाकर्षण की रूमानियत ही इनके लिए सार्थक-साहसिकता बन कर रह गई थी। मराठी के दिलिप चित्रे ने यौन-चित्रणों पर बल दिया। परम्परागत निषेधों का बहिष्कार करते हुए इस दशक की *मराठी कविता में अजीब प्रकार की यौनाग्रह के प्रति अवश्कृता दृष्टिगत होती है।* सिन्धी में कल्पना ने भी यौन चित्रों पर बल दिया। उड़िया में जो विद्रोही पीढ़ी उपजी, उसका कहना था–'लोग हमें अश्लील भौर स्वेच्छाचारी कह सकते हैं। क्या सूरज एक कम्बल में ढाका जा सकता है?'

हिन्दी में यों तो कपड़ा उतरवाने की परम्परा जैनेन्द्र भौर अज्ञेय से आरम्भ हो गई थी, किन्तु यौन-व्यवहारों को घृणित शब्दावली में पिरोने भौर जिघांसु चीत्कारों के भ्रूण को अघोरी मुद्रा में सेने का कार्य तथा कथित अकवितावादियों ने किया। इस चटकारेपन में कामुक भौर यान्त्रिक चटोरों का अरण्य-रोदन मात्र था, वह भी काल्पनिक भौर मानसिक। *'मरी हुई औरत के साथ लेटने की इच्छा'* ने हट्टे-कट्टे आदमी को कुत्ते से भी बदतर बना दिया। अकविता के विद्रोह की कुछ बानगियाँ हैं—

> जाँघ के नीचे चलती रहती हैं धारदार कैंचियाँ।

\+ \+ \+

"भौर एकाएक डायरी उठाकर दस रुपये घंटा पर मिलने वाली बाजारू औरतों के काल्पनिक चित्र खींचते हुए उसने अपनी पत्नी को नंगा कर दिया था।"
(जगदीश चतुर्वेदी)

\+ \+ \+

"उसने एक दिन कबूतरी के निचले हिस्से में परों के बीच कुछ खोजा था (कोई भी मादा जानवर उसे भ्राकर्षित कर सकती है) उसे जिस्म चाहिए और जिस्म किसी भी औरत का हो सकता है।" (अँधेरे में शक्ल की पहचान कोई मायना नहीं रखती है)
(मणिका मोहिनी)

इंगलैंड में समलैंगिकता को जायज व कानूनी करार देने का बड़ा हल्ला मचा था। 'पोइट्री' और 'ट्वन्टीएथ सेंचुरी' मे समलैंगिकों की डायरी व सस्मरण निरन्तर प्रकाशित होते रहे हैं। जापानी उपन्यास 'कन्फैशन्स आफ मास्क' मे एक समलिंगी युवक का आत्म-विश्लेषण विस्तार से चित्रित हुआ है। अकविता मे भी उसे लाया गया—"उसमे मुझे अपना वह अनुभव भी बताया जब वह छोटी उम्र मे गन्दी हरकतें करते हुए पकड़ा गया था और जब तक राजकमल चौधरी ने कहानी लिखनी शुरू नहीं की थी। यह वह कोमल क्षण था जिससे मे बचना चाहता था, क्योंकि तब वह मेरी कमर में हाथ डालकर घण्टों बोलता रहता और अपने कमरे में मुझे आने का निमन्त्रण देने लगता था।"
(सौमित्र मोहन)

अकवितावादियो की यह यौन-क्रांति भी अधिक नहीं चली। वदेयक का कहना है कि सभोग मे निजी, भीतरी और असाधारण जैसी चीज है ही नही। संभोग मनुष्य को पशु स्तर पर ला देता है और आन्तरिक प्रतिमा को अवरुद्ध कर सौंदर्य-बोध को विकृत कर देता है। काव्य मे यौन-प्रसगों की सकेतात्मक अभिव्यक्ति सुरुचि का परिचायक कही जा सकती है। अनावृत सौंदर्य स्थायी आकर्षण का केन्द्र नहीं रहता। यौन-प्रसंग अग्राह्य, अश्लील और विकृत नहीं हैं, किन्तु उनको मूर्त रूप देते समय कलाकार की भावना ही उसे गलीज कर देती है।

व्यवस्था–विरोधी :—

विरोध का सही रूप न तो व्यक्तिगत-आक्रामक-शाब्दिक नेजेबाजी में है और न उधार लिए हुए खोखलेपन में और न यौन-विद्रोह मे। इसी प्रकार इस दशक की सही विद्रोही कविता उन कवियों की है जिन्होंने सामाजिक और राजनैतिक यथार्थ से सीधा साबिका पैदा किया है, जिनके लिए राजनीति एक जीवन्त एव कठोर सत्य बन कर आई है। वस्तुतः राजनीति ने जीवन के हर पहलू को आक्रांत कर रखा है। नया कवि उससे बच नहीं सकता, यही कारण है कि साठोत्तरी कविता में ऐतिहासिक और सामाजिक यथार्थ का सही दस्तावेज है जो झिंझोड़ता हैं, कोंचता है और तिलमिलाता है। राजनैतिक विसंगतियों का ऐसा व्यग्य परक खाका है, जो मन को छीलता है, मासता है। ये कविताएँ वामपंथी भी हैं और व्यवस्था विरोधी भी। इनमें विद्रोह का नकली बाना न होकर सवेदनाओं और धड़कनों की सही पकड़ है। सामयिक विसंगतियों ने इस संदर्भ में उनके कार्य को अर्थवत्ता प्रदान की

है। सन् १९६७ में उड़िया के रवीन्द्रनाथ सिंह का 'ज्वालारमाला' संग्रह प्रकाशित हुआ था, जिसमें सामयिक राजनैतिक परिवेश के प्रति आग उगली है। पंजाबी के रविन्द्र सिंह रवि, गुरनामवीर सिंह हमरत, जगतारसिंह, रनधीरसिंह, सतीकुमार आदि ने और हिन्दी में रघुवीर सहाय, धूमिल, कमलेश, लीलाधर जगूड़ी, सौमित्र मोहन, चन्द्रकान्त देवताले, प्रमोद सिन्हा, त्रिनेत्र जोशी और हेमन्त शेष आदि कवियों ने आज के तनाव, विद्रूपताओं, राजनैतिक विसंगतियों विडम्बनाओं को अपनी कविताओं में चित्रित किया है। ये कविताएँ न केवल परिचित जगत को उजागर करती हैं, अपितु पहचान की नजरिया को तीखा बनाती हैं।

महासंघ का मोटा अध्यक्ष
धरा हुआ गद्दी पर
खुजलाता है उपस्थ
सर नहीं
हर सवाल का उत्तर देने से पेश्तर
आंख मारकर पच्चीस बार हँसे वह
पच्चीस बार हँसे अखबार। (रघुवीर सहाय)

मैंने इंतजार किया
अब कोई बच्चा
भूखा रहकर स्कूल नहीं जायेगा
अब कोई छत बारिश में नहीं टपकेगी
अब कोई आदमी कपड़ों की लाचारी में
अपना नंगा चेहरा नहीं पहनेगा
अब कोई दवा के अभाव में घुट-घुट कर नहीं मरेगा
अब कोई किसी की रोटी नहीं छीनेगा
कोई किसी को नंगा नहीं करेगा।
+ + +
मगर एक दिन मैं स्तब्ध रह गया
मेरा सारा धीरज
युद्ध की आग से पिघलती हुई बर्फ में
बह गया। (धूमिल)

मोहभंग, नाराजगी, घृणा और विद्रोह की ये कविताएँ पहले की चीखती, रिरियाती, मिमियाती और तान्त्रिक मंत्रों का उच्चारण करती आवाजों के बीच साह-
... इनके सामयिक महत्व को नकारा

जा सकता। किन्तु इस विद्रोही कविता में अभिव्यंजना-रूढि ने ऐसा स्थान बना ा कि समस्त कविताएँ एक ही कवि द्वारा लिखी हुई प्रतीत होती हैं। दूसरे, यह ता अखबारनवीसी की ओर ज्यादा झुकी हैं जिससे सपाट बयानी ने लम्बे पैर रे हैं। इस कविता में गहरा आत्म मथन न होकर, व्यवस्था की ठंडी सतह को ने का प्रयास भर है। साथ ही यह ध्यान में रखने की बात है कि सक्रिय राज- ा में दो पद्धतियाँ कारगर हुआ करती हैं—पहली तूफानी, दूसरी कुहासे की। से वाली कहीं अधिक असरदार होती है। प्रतिवादी दृष्टि की क्षमता असंदिग्ध है तु इससे सृजनात्मक पक्ष कमजोर हो जाता है। तीसरे इन कविताओं में विस- ्यों के प्रति वस्तुपरक दृष्टि है, बेचैनी है, पर नये मूल्यों के स्थापन का प्रयास ं है।

फिर भी, इन कविताओं की गर्मजोशी, तनावगत उग्रता और प्रखरता ही त्वता है, जिससे पहली बार यह महसूस हुआ कि कविता का सरोकार भी मानव न से घनिष्ठतम स्तर पर हो सकता है। पंजाबी का कवि हरभजन सिंह भी ता है:—

> हर पाल जब आग मेरे शरीर से उठती है
> तो जाग पड़ता हूं
> यहां वियतनाम था, अब वह कहां है ?

हिन्दी और पंजाबी के अतिरिक्त भी अन्य भाषाओं में समय-सत्य से संलग्नता की यह प्रवृत्ति पाई जाती है। यथास्थितिवाद और ठहराव के प्रति इन कवियों में गहरी तिलमिलाहट है। इनमें आत्मदाह हैं। विसंगतियाँ और विघटन इनके लिए जीवित संस्कार हैं।

मराठी, कन्नड, तेलुगु, मलयालम, हिन्दी और बंगला की साठोत्तरी कविता ने परम्परागत भाषा का बहिष्कार किया। सिन्धी के कवि हरीश ने इस भावना को व्यक्त करते हुए लिखा है:—

> प्रयोगों की वेश्यावृत्ति से
> सभी शब्द बनावटी हो गये
> पहले हमने उनकी आत्माओं पर बलात्कार किया
> तब उन्हें स्वर्ण के साथ मैदान में ले आये

बोलचाल की भाषा में गाली-गलौज सम्मिलित हो गई:—

> मैं भाभी को बोला
> क्या भाई साहब की ड्यूटी पे मैं आ जाऊं ? भड़क गयी साली
> रहमान बोला गोली चलाऊंगा

मैं बोला एक रंडी के वास्ते ? चलाव गोली मादू।
(अरुण कोलटकर, मराठी)

+ + +

सब गलत क्या है
तुम देह खोदते हो
बातें खोदते हो। (लीलाधर जगूड़ी, हिन्दी)

किन्तु राजनैतिक और सामाजिक यथार्थ से जुड़े हुए कवियों ने परम्परागत काव्य-भाषा का तो बहिष्कार किया, किन्तु उसे जन-जीवन के समीप ले आये। यह गाली-गलौच उनकी भाषा में नहीं है किन्तु भाषा में सपाट पन अवश्य आ गया है।

साठोत्तरी भारतीय कविता में प्राप्त इस समस्त विद्रोह का अधिकांश रूप दिखावटी, चौंकाने वाला और छिछला रहा है। दिगम्बर कुवुलु (नंगी पीढ़ी) ने आभिजात्य वर्ग को अपमानित करने के लिए अपने पहले संग्रह का उद्घाटन एक रिक्शा वाले से, दूसरे का बैरे से, तीसरे का एक भिखारिणी से कराया। हिन्दी की श्मशानी पीढ़ी ने एक लाश की अध्यक्षता में कवि सम्मेलन किया। ये सभी हास्यास्पद और बचकानी हरकतें थीं। इनके काव्य में न तो जन-जीवन से प्रतिबद्धता है और न स्थितियों से साक्षात्कार करने का सामर्थ्य। यही कारण है नंगी पीढ़ी का विद्रोह शीघ्र ही ठण्डा पड़ गया। इनमें से तीन कवि माओवादी और नक्सलपंथी संगठन 'विप्लव रचयिताला संघम्' के सदस्य हो गये। उनका नेता नग्नमुनि उदासीन हो गया। इसी प्रकार भूखी पीढ़ी ने कविता का कच्चा माल तो तैयार किया, किन्तु कविता नहीं की। वे उस कीमियागिरी से रहित थे जो कवि की वैयक्तिक अनुभूतियों को निर्वैयक्तिक अनुभूतियों में बदल कर कला की निर्वैयक्तिक अनुभूतियों में ढाल देती है। भूखी पीढ़ी के पाँच कवियों की गिरफ्तारी के पश्चात् उसका गुबार ठण्डा पड़ गया। पंजाबी, सिन्धी, कश्मीरी, उड़िया के विद्रोहियों की यही गति हुई। हिन्दी की अकविता पीढ़ी, युयुत्सा पीढ़ी, श्मशानी पीढ़ी, मराठी की असंतुष्ट पीढ़ी और चालू कविता की दो-तीन वर्ष के भीतर यह स्थिति हो गई :—

कड़ुआहट चुक गई
तापमान गिर चला
इतना साधारण अंत नहीं देखा हमने किसी
आग का
क्या करें निचुड़े दिमाग का। (कैलाश वाजपेयी, हिन्दी)

भारतीय काव्य का यह दौर सही माने में विद्रोही न होकर, उसका खोखला . . भर था। यथार्थ से सीधा साक्षात्कार न होने के कारण सारा विद्रोह रूमानी

हो गया। उसमें यथार्थ का भ्रम मात्र है। यह आज के भारतीय जीवन में फँसे हुए मार्गविरोधों से टूटते इंसानों की तीखी आत्म-पीड़ा की अभिव्यक्ति का माध्यम न होकर, अविशुद्ध सेक्स, ड्रीम, अजनबीपन, आत्म-निर्वासन, अभाव और कुंठा का कोरा नाम बन रहे हुए हैं।

किसी भी क्रान्ति या विद्रोह के लिए निश्चित जीवन-दर्शन, आस्था व दिशा, ठोस मकसद और निश्चित प्रक्रिया का होना आवश्यक है, वह मकसद और जीवन-दर्शन भारतीय युवा-विद्रोहियों के पास नहीं था। यही कारण है कि इन विद्रोहियों का रास्ता सतह पर डोलता रहा, उसने भारतीय-जीवन-दृष्टि को कहीं भी गहराई से